विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : १०४६

अनुक्रमणिका

..

●

कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
कैलिफोर्निया में, सन् १९०० ई.

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १२] अक्तूबर - नवम्बर - दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ५) ★ १९७४ ★ एक प्रति का १॥)

बन्धन का स्वरूप

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः ।
जन्माप्ययव्याधिजरादि दुःख-
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥

—अनात्मा का यह बन्धन अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह नैसर्गिक है, अर्थात् अपने अस्तित्व के लिए यह अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता। इसे अनादि और अन्तरहित बताया गया है। यह जीव को जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापा आदि दुःखों की लम्बी शृंखला में जकड़ लेता है।

—विवेकचूड़ामणि, १४६

अपने को छलो मत

एक राजा था। एक समय उसने अपने गुरु से पावन अद्वैत तत्त्व का उपदेश ग्रहण किया। अद्वैत घोषणा करता है कि सारा जगत् ब्रह्म ही है--'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। राजा इस अद्वैत-सिद्धान्त का उपदेश सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह गुरु से विदा ले राजमहल लौटा। अन्तःपुर में जाकर उसने अपनी रानी से कहा, "देखो, आज मैंने गुरुदेव से अद्वैत का पाठ सीखा है। रानी में और रानी की दासी में कोई अन्तर नहीं है। अतः अब से दासी ही तुम्हारी जगह मेरी रानी होगी।" रानी तो राजा की यह बात सुन सन्नाटे में आ गयी। वह सोचने लगी कि यह राजा पर कैसा पागलपन सवार हो गया! वह चिन्ता में डूब गयी। उसने सोचा कि गुरुदेव को बुलाकर सारा मामला स्पष्ट कर लिया जाय।

उसने गुरुदेव के पास खबर भेजी। उनके आने पर उसने शिकायत के स्वर में कहा, "देखिए महाराज! आपके उपदेश का कैसा घातक फल निकला!" और उसने उन्हें राजा की सारी बात बता दी। गुरुदेव ने रानी को सान्त्वना देते हुए कहा, "चिन्ता मत करो। सब ठीक हो जायगा। आज रात को जब तुम राजा के भोजन का प्रबन्ध करो, तो चावल के साथ एक बर्तन में गोबर भी परोसकर रखना। मैं स्वयं उस समय रहूँगा।"

रानी ने वैसा ही किया। रात में राजा अपने गुरुदेव के साथ भोजन करने बैठा। उसने जब देखा कि

भोज्य पदार्थों में गोबर भी परोसा हुआ है, तो क्रोध से वह आगबबूला हो गया। उसके ओठ फड़कने लगे। गुरुजी यह सब देख ही रहे थे। वे शान्तिपूर्वक राजा को समझाते हुए कहने लगे, "महाराज! आप तो अद्वैत-ज्ञान में दक्ष हैं। फिर भला क्यों आप गोबर और चावल में भेद-ज्ञान रखते हैं?" राजा खीझ उठा। आवेश में आकर अपने गुरु से बोल पड़ा, "आप तो अपने को बड़ा अद्वैत-वादी मानते हैं। तो आप ही यह गोबर खाकर दिखाइए न।" "ठीक है," गुरु बोले और तुरन्त उन्होंने शूकर का रूप धारण कर गोबर को खाना शुरू किया। तृप्तिपूर्वक डकारते हुए गोबर का भक्षण कर गुरु ने फिर से मनुष्य-रूप ग्रहण कर लिया। राजा यह देख बड़ा लज्जित हुआ और उसने गुरु से क्षमा माँगी। उसनें फिर कभी रानी के पास अपना पागलपन-भरा प्रस्ताव नहीं दुहराया।

मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए ऊँचे सिद्धान्तों की कैसे आड़ ले लेता है, यह कथा उसका एक उदाहरण है। यदि किसी सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहते हो, तो सभी जगह वैसा करो। यदि न्याय की बात पसन्द है, तो सभी के साथ न्याय करो। अपनी सुविधा के अनुसार किसी सिद्धान्त का प्रयोग करना केवल अपने को छलना है। इस आत्म-प्रवंचना से बचो।

●

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
नवम्बर (?), १८९४

प्रिय दीवान जी,

आपका पत्र पाकर मैं अति आनन्दित हुआ। मैं आपका विनोद समझता हूँ, परन्तु मैं कोई बालक नहीं हूँ, जो इससे टाल दिया जाऊँ। लीजिए, अब मैं कुछ और लिखता हूँ, उसे भी ग्रहण कीजिए।

संगठन एवं मेल ही पाश्चात्य देशवासियों की सफलता का रहस्य है। यह तभी सम्भव है, जब परस्पर भरोसा, सहयोग और सहायता का भाव हो। उदाहरणार्थ, यहाँ जैन धर्मावलम्बी श्री वीरचन्द गाँधी हैं, जिन्हें आप बम्बई में अच्छी तरह जानते थे। ये महाशय इस विकट शीतकाल में भी निरामिष भोजन करते हैं और अपने देशवासियों एवं अपने धर्म का दृढ़ता से समर्थन करते हैं। यहाँ के लोगों को वे बहुत अच्छे भी लगते हैं। परन्तु जिन लोगों ने उन्हें यहाँ भेजा, वे क्या कर रहे हैं? —वे तो उन्हें जातिच्युत करने की चेष्टा में लगे हैं! दासों में ही स्वभावतः ईर्ष्या उत्पन्न होती है और फिर वह ईर्ष्या ही उन्हें पतितावस्था की खाई में ले जाती है।

यहाँ. . .लोग आये थे; वे सब चाहते थे कि व्याख्यान देकर कुछ धनोपार्जन करें। कुछ उन्होंने किया भी, परन्तु मैंने उनसे अधिक सफलता प्राप्त की। मैंने तो उनकी

सफलता में कोई बाधा नहीं डाली। यह सब ईश्वर की इच्छा से ही हुआ। परन्तु ये लोग, केवल...को छोड़, मेरे पीठ पीछे मेरे वारे में इस देश में भीषण झूठ रचकर प्रचार कर रहे हैं। अमेरिकावासी ऐसी नीचता की ओर कभी दृष्टिपात न करेंगे, न वे ऐसी नीचता दिखाएँगे।

...यहाँ यदि कोई मनुष्य आगे बढ़ना चाहता है, तो सभी लोग उसकी सहायता करने को प्रस्तुत रहते हैं। किन्तु यदि आप भारत में मेरी प्रशंसा में एक भी पंक्ति किसी समाचार-पत्र ('हिन्दू') में लिखें, तो दूसरे ही दिन सब मेरे विरुद्ध हो जायँगे। क्यों ? यह गुलामों का स्वभाव है। वे अपने किसी भाई को अपने से तनिक भी आगे बढ़ते नहीं देख सकते...। क्या आप ऐसे क्षुद्र लोगों की तुलना स्वतंत्रता, स्वावलम्वन और भ्रातृ-प्रेम से भरे इस देश के लोगों के साथ करना चाहते हैं ? संयुक्त राज्य के स्वतंत्र किये हुए दास--नीग्रो—ही हमारे देश-वासियों के सबसे निकट आते हैं। दक्षिण में ये नीग्रो लगभग दो करोड़ हैं और अब स्वतंत्र हैं। वहाँ गोरे बहुत थोड़े हैं, फिर भी वे उन नीग्रो को दबाकर रखते हैं। ऐसा क्यों ? उन्हें कानूनन सारे अधिकार प्राप्त होते हुए भी इन गुलामों को स्वतंत्र करने के लिए भाई-भाई में खून की नदियाँ बहीं। वह ईर्ष्या का अवगुण ही इसका कारण था। इनमें से एक भी नीग्रो अपने नीग्रो भाई का न तो यश सुन सकेगा और न उसकी उन्नति देख सकेगा। तुरन्त ही वह गोरों से मिलकर उसे कुचलने के लिए

तैयार हो जायगा। भारत से बाहर आये बिना आप इसे नहीं समझ सकेंगे। यह ठीक है कि जिनके पास बहुत सा धन है और जिन्हें मान-सम्मान प्राप्त है, वे संसार को अनदेखा कर सकते हैं, परन्तु जो लोग कठोर श्रम से जीनेवाले लाखों गरीबों और पददलितों के हृदय-रक्त पर पलते और शिक्षित होते हैं, ऐशो-आराम का भोग करते हैं, फिर भी उनकी ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें मैं विश्वास-घातक कहता हूँ। इतिहास में कब और कहाँ आपके धनवान और कुलीन पुरुषों ने, पुरोहितों और राजाओं ने गरीबों की ओर ध्यान दिया था—वे गरीब, जिन्हें कोल्हू के बैल की तरह पेरने से ही उनकी शक्ति संचित हुई थी?

परन्तु ईश्वर महान् है। आगे या पीछे बदला मिलना ही था, और जिन्होंने गरीबों का रक्त चूसा, जिनकी शिक्षा उनके धन से हुई, जिनकी शक्ति उनकी दरिद्रता पर बनी, वे अपनी बारी में सैकड़ों और हजारों की गिनती में दास बनाकर बेचे गये, उनकी सम्पत्ति हजार वर्षों तक लुटती रही, और उनकी स्त्रियाँ और कन्याएँ अपमानित की गयीं। क्या आप समझते हैं कि यह अकारण ही हुआ?

भारत के गरीबों में इतने मुसलमान क्यों हैं? यह सब बकवाद है कि तलवार की धार पर उन्होंने धर्म बदला। ... जमींदारों और. . .पुरोहितों से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया, और फलत: आप देखेंगे कि बंगाल में, जहाँ जमींदार अधिक हैं, किसानों

में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक हैं। इन लाखों-करोड़ों पददलितों और पतितों को ऊपर उठाने की किसे चिन्ता है? विश्वविद्यालय की उपाधि लेनेवाले कुछ हजार व्यक्तियों से राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। कुछ धनवानों से राष्ट्र नहीं बना करता। यह सच है कि हमारे पास सुअवसर कम हैं, परन्तु फिर भी तीस करोड़ व्यक्तियों को खिलाने और कपड़ा पहनाने के लिए, उन्हें आराम से, यही क्यों, ऐशो-आराम से रखने के लिए हमारे पास पर्याप्त है। हमारे देश में नब्बे प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं; पर किसे इसकी चिन्ता है? इन बाबू लोगों को? इन तथाकथित देशभक्तों को?

इतना होने पर भी मैं आपसे कहता हूँ कि ईश्वर है, यह ध्रुव सत्य है। मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ। वही हमारे जीवन का नियमन कर रहा है। और यद्यपि मैं जानता हूँ कि जातिसुलभ स्वभाव-दोष के कारण गुलाम लोग अपनी भलाई करनेवालों को ही काट खाने दौड़ते हैं, फिर भी आप मेरे साथ प्रार्थना कीजिए--आप, जो उन इने-गिने लोगों में से हैं, जिन्हें सत्कार्यों से, सदुद्देश्यों से सच्ची सहानुभूति है, जो सच्चे और उदार हैं तथा हृदय और बुद्धि से सर्वथा निष्कपट हैं—आप मेरे साथ प्रार्थना कीजिए—'हे कृपामयी ज्योति! चारों ओर से घिरे इस निविड़ अन्धकार में पथ-प्रदर्शन करो।'

मुझे चिन्ता नहीं कि लोग क्या कहते हैं। मैं अपने ईश्वर से, अपने धर्म से, अपने देश से और सर्वोपरि,

अपने आपसे--एक निर्धन भिक्षुक से--प्रेम करता हूँ। जो दरिद्र हैं, अशिक्षित हैं, दलित हैं, उनसे मैं प्रेम करता हूँ। उनके लिए मेरा हृदय कितना द्रवित होता है, इसे भगवान् ही जानते हैं। वे ही मुझे रास्ता दिखाएँगे। लोगों के सम्मान या छिद्रान्वेषण की मैं रत्ती भर भी परवाह नहीं करता। मैं उनमें से अधिकांश को शोर मचानेवाला नादान बालक समझता हूँ। सहानुभूति एवं निःस्वार्थ प्रेम का मर्म समझना उनके लिए कठिन है।

मुझे श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद से वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है। मैं अपनी छोटी सी मण्डली के साथ काम करने का प्रयत्न कर रहा हूँ; वे भी मेरे समान निर्धन भिक्षुक हैं। आपने उन्हें देखा है। पर दैवी कार्य सदैव गरीबों एवं दीन मनुष्यों द्वारा ही हुए हैं। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने गुरु में, अपने प्रभु में और अपने आप में अखण्ड विश्वास रख सकूँ।

प्रेम और सहानुभूति ही एकमात्र मार्ग है। प्रेम ही एकमात्र उपासना है।

प्रभु आपकी और आपके स्वजनों की सदा सहायता करे।

साशीर्वाद

विवेकानन्द

हमारी इच्छाशक्ति कितनी स्वतंत्र है ?

स्वामी निखिलानन्द

(गतांक से आगे)

विज्ञान ईश्वरेच्छा में विश्वास नहीं करता। आधुनिक विज्ञान ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता, वह सिर्फ उसके प्रति उदासीन है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विज्ञान तकनीकी और चिकित्सा-क्षेत्र की उपलब्धियों के कारण सफलता के शिखर पर चढ़ रहा था। परन्तु आज विज्ञान भौतिक विश्व के सम्बन्ध में जितना ही अधिक जानने का दावा भरता है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि वह कितना कम जानता है। विज्ञान द्वारा आविष्कृत प्रत्येक आलोकमय क्षेत्र के साथ ही उससे सम्बन्धित मानो दो क्षेत्र ऐसे हैं, जो अन्धकार से भरे हैं। इसलिए आधुनिक विज्ञान के अनुसार मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है। वह एक नियंत्रित विश्व में रहता है, जो कार्य-कारण के नियमों द्वारा बँधा है। उसकी क्रियाएँ वंशानुक्रम या वातावरण अथवा शिक्षा द्वारा नियंत्रित होती हैं। इसलिए वह स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकता। फिर भी, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हम कुछ हद तक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। चाहूँ तो मैं अपना भोजन करूँ या न करूँ, यह मेरी इच्छा पर निर्भर करता है। तुम मन्दिर आना चाहो, तो आ सकते हो या चाहो तो बाहर रह सकते हो। ऐसी बात नहीं कि तुम्हें

आना ही होगा। हमारी अधिकांश क्रियाओं के लिए यह बात लागू होती है।

मनुष्य कुछ सीमा तक स्वतन्त्र है। एक खूँटे से बँधी गाय का उदाहरण लें। मान लें कि रस्सी बीस फुट लम्बी है; गाय रस्सी की लम्बाई के भीतर घूमने में स्वतन्त्र है, परन्तु यदि बीस फुट के बाद वह एक इंच भी आगे जाना चाहे, तो असम्भव है। इसलिए रस्सी की लम्बाई के भीतर की हलचल को 'स्वतन्त्र इच्छा' कह सकते हैं। वह खूँटा, जो हमारी गति को सीमित कर देता है, ईश्वरेच्छा या प्रारब्ध के नाम से पुकारा जा सकता है। उसे विज्ञान के शब्दों में वंशानुक्रम भी कह सकते हैं, या उसे वातावरण कह लीजिए, या शिक्षा अथवा एक अदृश्य नियम, जिस पर हमारा कोई अधिकार नहीं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि ईश्वरेच्छा ही एकमेव स्वतन्त्र है। जिसे हम मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कहते हैं, वह तो एक आभासमात्र है, और यह दिखावटी स्वतन्त्र इच्छा ईश्वर ने ही हमारे हृदय में आरोपित की है; नहीं तो पाप में कई गुना वृद्धि हो जाती। यदि हम सब यह विश्वास करें कि हम असहाय हैं और ईश्वर ही हमारी इच्छा को पूरी तरह निर्धारित करते हैं, तब हम अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होंगे। परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि हम कुछ मात्रा में समर्थ हैं, तो स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की धारणा जिम्मेदारी को हम पर ढकेल देती है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से मैं पाप करता

हूँ। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से चाहे तो मैं पुण्यात्मा भी बन सकता हूँ।

बहुत से व्यक्ति विश्व की आधुनिक परिस्थिति को, जो आणविक युद्ध की सम्भावना से युक्त है, घोर निराशावादी दृष्टि से देखते हैं। वे सोचते हैं कि मनुष्य असहाय है। परन्तु मेरा विचार है कि सभी लोग ऐसा नहीं सोचते। कई ऐसे भी हैं, जो स्वतन्त्र इच्छा में विश्वास करते हैं। वे सोचते हैं कि विश्व सत्ता-लोलुपता और लोभवृत्ति के कारण ऐसी दशा को पहुँच गया है और समुचित व्यवस्था से यह हालत सुधारी जा सकती है। यही कारण है कि विभिन्न देशों के नेतागण इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि निश्शस्त्रीकरण हो, आणविक परीक्षण का परित्याग हो और यही कारण है कि संयुक्त-राष्ट्र संघ विश्व-शान्ति के लिए उपाय खोज रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मामलों में हम स्वतन्त्र हैं और कुछ में नियमों द्वारा बद्ध हैं। अब हम दार्शनिक दृष्टि से इस शब्द के अर्थ पर गौर करेंगे और देखेंगे कि वास्तव में इच्छा स्वतन्त्र है या नहीं। हम मनुष्य की मुक्ति और बन्धन के सम्बन्ध में भी विचार करेंगे।

इच्छा क्या है ? वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही चरम सत्ता है। वह शुद्ध, बुद्ध, अद्वय, एकमेवाद्वितीय है। वह सर्वदा मुक्त है। जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में इस परमात्मा से एकरूप है। ब्रह्म की दृष्टि से, जिसे हम भौतिक मनुष्य या लौकिक विश्व कहते हैं, उसका कोई

अस्तित्व नहीं है। तब यह स्पर्श द्वारा अनुभवगम्य विश्व क्या है, जहाँ हम देश, काल और कार्य-कारण के नियमों से बँधे हैं ? देश, काल और कार्य-कारण के नियम हमारी स्वतन्त्र इच्छा को सीमित करने में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। यह भौतिक विश्व क्या है ? वेदान्त-दर्शन और अलौकिक अनुभवों के अनुसार यह विश्व भी शुद्ध चैतन्य है। परन्तु माया के आवरण के कारण ब्रह्म का एक अंश विश्व के रूप में दिखायी पड़ता है। इसका क्या अर्थ है ? शुद्ध आत्मचैतन्य का एक अंश अपनी अनिर्वचनीय शक्ति से देश, काल और कार्य-कारण नियम के साँचे में ढल जाता है। अनन्त ब्रह्म नियमातीत है। वह सर्वदा मुक्त है। परन्तु विश्व काल के नियम, देश के नियम और कार्य-कारण के नियम का पालन करता है; और जहाँ नियम का बन्धन है, वहाँ मुक्ति नहीं है। नियम मुक्ति को सीमित कर देता है। इसलिए तुम देखोगे कि हमारी इच्छा में भी सीमितता है। यह परिसीमन हमारे वास्तविक स्वरूप पर लागू नहीं होता, क्योंकि शुद्ध आत्मचैतन्य ही हमारा यथार्थ स्वरूप है। परिसीमन तो देश, काल और कार्य-कारण की सीमाओं के द्वारा उत्पन्न होता है। इस क्षण मैं यहाँ हूँ। सौ वर्ष पूर्व मैं यहाँ नहीं था और अब से पचास वर्ष के उपरान्त भी नहीं रहूँगा। अतः काल स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है। कोई भी व्यक्ति भूत, वर्तमान और भविष्य से एक साथ संयुक्त नहीं हो सकता। ऐसा ही देश के साथ भी है। मैं अभी यहाँ न्यूयार्क में

हूँ। इसी समय मैं लन्दन में नहीं हो सकता। इसलिए देश भी मेरी स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है। कारण अपना एक समुचित परिणाम उत्पन्न करता है। जैसा तुम बोओगे, वैसा काटोगे; अच्छा तो अच्छा, बुरा तो बुरा। अग्नि जलाती है। पानी भिगोता है। सारे नियम कार्य-कारण से बँधे हुए हैं। अतएव अनन्त का वह भाग जिसे हम देखते हैं, सुनते हैं, जिसका अनुभव करते हैं, स्पर्श करते हैं, जिसे सोचते हैं, वह नियम की सीमा के भीतर बद्ध है।

महान् जर्मन दार्शनिक काण्ट ने दो श्रेणियों की बात कही है—एक है 'नाउमेनन' (noumenon) यानी विश्व का अगोचर स्वरूप या वस्तु अपने आप में जैसी है वह, और दूसरा है 'फिनामेनन' (phenomenon) यानी ब्रह्माण्ड का गोचर रूप। वस्तु अपने आप में जैसी है वह—यानी वस्तु का अगोचर स्वरूप—देश, काल और कार्य-कारण नियम से परे है, परन्तु जब मानव-मन उसे समझना चाहता है, तो वह तत्काल देश, काल और कार्य-कारण की धारणा का उपयोग करता है। अन्यथा हम न कुछ देख सकते हैं, न सुन सकते हैं और न किसी के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं। देश, काल और निमित्त ये तीनों नियमों के आधीन हैं, परन्तु शुद्ध आत्मचैतन्य या वस्तु का अगोचर स्वरूप तो अनन्त और एकमेवाद्वितीय है। इसीलिए वह देश, काल और निमित्त के नियमों से परे है तथा सर्वदा मुक्त है।

जब हम ब्रह्माण्ड के साथ व्यवहार कर रहे होते हैं,

जब हम उसे देखते और स्पर्श करते हैं, उस समय हमारी इच्छा क्या स्वतन्त्र रहती है ? अच्छा, यह इच्छा क्या है ? वह कैसे उत्पन्न होती है ? मैं कुर्सी को हिलाता हूँ। इस हलचल का क्या कारण है ? मेरी इच्छा । इसी प्रकार हर छोटा-बड़ा कार्य जो हम करते हैं, हमारी इच्छा का ही प्रकटीकरण है। कलों और मशीनों को ले लें, प्रयोगशाला में प्रयुक्त उत्कृष्ट यंत्रों को ले लें, अन्तरिक्ष विमान को या परमाणु बमों को ले लें, अथवा ग्रन्थ-लेखन को, चित्रकारी या मूर्तिकला को ले लें। ये सब मनुष्य की इच्छा के ही प्रकाश हैं। परन्तु यह इच्छा हमेशा अहंकार अथवा मैं-बोध के साथ जुड़ी होती है। हम इसमें स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं कि चाहे तो करें या न करें। मैं एक चित्र को चाहे तो बना लूँ या न बनाऊँ। मैं चाहूँ तो ऐसे कार्य कर सकता हूँ, परन्तु वे मेरे लिए बाध्यता नहीं हैं। यह अहंकार केवल आपेक्षिक संसार में कार्य करता है। हम जब ईश्वर या शुद्ध आत्मचैतन्य का साक्षात्कार कर लेते हैं, तब यह अहंकार विलुप्त हो जाता है। जिसे हम इच्छा-शक्ति कहते हैं, वह इस भौतिक संसार में ही जन्म लेती है और यह इच्छाशक्ति 'माया' के नाम से पुकारे जाने-वाले सार्वभौमिक अज्ञान का ही एक अंग है। इच्छाशक्ति वासना से जुड़ी होती है। और वासना या इच्छा बिना किसी भौतिक विषय के हो नहीं सकती। मैं भोजन करने की इच्छा करता हूँ, या किसी वस्तु को हटाने की इच्छा करता हूँ। इच्छा और वासना सर्वदा भौतिक विषयों से

जुड़ी होती है। बिना बाहरी उत्तेजना के इच्छा या वासना नहीं जागती। यह उत्तेजना भौतिक विषय द्वारा जुटायी जाती है। मस्तिष्क की बाह्य जगत् के प्रति की गयी प्रतिक्रिया ही इच्छा है। जहाँ बाह्य जगत् ही न हो, वहाँ इच्छा भी नहीं हो सकती। अतएव इच्छा बाह्य एवं आन्तरिक संसार का मिश्रण है। ऐसा कैसे है ?

हम एक वस्तु देखते हैं। उसे स्वीकार करने या न करने में इच्छाशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। या तो हम उससे आकर्षित हो उसे स्वीकार करते हैं अथवा उसमें अरुचि होने से अस्वीकार कर देते हैं। क्रियावाहक नाड़ियाँ इच्छाशक्ति के आदेश का पालन करती हैं। वैज्ञानिकों ने पशुओं पर प्रयोग किया है। उन्होंने पाया कि जब क्रियावाहक नाड़ियाँ निकाल दी गयीं, तो पशुओं की इच्छाशक्ति कार्य नहीं कर सकी।

अब हम समझ सकेंगे कि कोई स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है या नहीं। इच्छाशक्ति केवल इस सापेक्ष जगत् में कार्य कर सकती है, जो देश, काल और कार्य-कारण-नियम से संयुक्त है। जैसा हमने अवलोकन किया, देश, काल और कार्य-कारण-नियम के क्षेत्र में कोई स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं होती। इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं पुनः कहता हूं, इच्छाशक्ति अपना कार्य इस बाह्य भौतिक संसार में करती है और इसलिए यहाँ कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है। यह इच्छाशक्ति निरपेक्ष सत्ता नहीं। यह तो विश्व-चेतना

या सार्वजनीन इच्छाशक्ति का एक अंशमात्र है, जो हमारे अहंकार के माध्यम से प्रकट होता है। 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति' ये दोनों शब्द स्वयं ही एक दूसरे का खण्डन करते हैं, क्योंकि इच्छाशक्ति वासना और भौतिक विषयों से जुड़ी होती है। ये वासनाएँ और भौतिक विषय संसार के दायरे में होते हैं और संसार के दायरे में सभी कुछ सीमाबद्ध होता है। भौतिक विश्व में किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। मन और विचार नियमों से बँधे हैं। इच्छा मन और विचारों से जुड़ी होती है। इसलिए वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। अतएव जब हम प्रगल्भतापूर्वक कह उठते हैं 'स्वतन्त्र इच्छाशक्ति', तो भूल जाते हैं कि हम परस्पर एक दूसरे को काटनेवाले शब्दों का उपयोग कर रहे हैं।

यह सब तो मैंने कहा, पर इसके बावजूद हम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। इच्छाशक्ति की यह स्वतन्त्रता एक आभास मात्र है। यह ऐसी स्वतन्त्रता है, जो एक प्रतिबिम्ब है। वास्तविक स्वतन्त्रता तो विश्वचेतना या ईश्वर की होती है। जब वह मन के आवरण में से झाँकती है, तो वही प्रतीयमान स्वतन्त्रता बन जाती है। वह जल में दिखायी पड़नेवाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान है। हम हर क्षण स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र नहीं भी हैं। यह उस पर निर्भर करता है कि हम स्वयं अपने प्रति कैसी दृष्टि रखते हैं। यदि हम स्वयं को पूर्णतया शरीर मान लें और इस संसार से एकरूप

हो जायँ, तो हम स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि तब हम देश, काल और कार्य-कारण-नियम से बद्ध हो जाते हैं। परन्तु यदि हम आत्मा पर जोर दें, यदि हममें यह भाव बना रहे कि हम विश्वचेतना के एक पक्ष हैं, तो हमारी यह धारणा जिस परिमाण में सुदृढ़ होगी, उसी परिमाण में हम स्वतन्त्र होंगे। मनुष्य मिट्टी और देवता, जड़ और चेतन, शरीर और आत्मा का मिश्रण है। इसलिए वह स्वतन्त्र भी है और नहीं भी है। यह इस पर निर्भर करता है कि वह अपने किस भाग में अधिक कार्यशील है। यदि तुम ईश्वर को दृष्टि अपने भीतर लाकर कार्य कर रहे हो, तो तुम स्वतन्त्र हो और यदि तुम शरीर या मन के आधार पर कार्य कर रहे हो, तो स्वतन्त्र नहीं हो, क्योंकि शरीर और मन देश, काल और कार्य-कारण-नियम में बँधे हैं।

मैं और आगे बढ़कर कहता हूँ कि हम मूलतः स्वतन्त्र हैं, अन्यथा हम जीवित न होते और न श्वास लेते होते। उपनिषद् में कहा गया है कि स्वतन्त्रता से ही हम निकले हैं, स्वतन्त्रता द्वारा ही हम धारित हैं, और स्वतन्त्रता में ही अन्ततः हम पुनः लौट जायँगे। स्वतन्त्र संसार की आज यही मान्यता है। वे सोचते हैं कि बन्धन की सारी विचारधारा ही एक भ्रम है। वे यह मानते हैं कि वे चाहे जो कर सकते हैं। दूसरे लोगों का विचार है कि स्वतन्त्रता की सम्पूर्ण विचारधारा ही एक भ्रम है। वे तर्क करते हैं कि यदि वास्तव में मनुष्य स्वतन्त्र होता, तो फिर वह घृणा, झगड़ा-फिसाद और युद्ध को क्यों दूर

नहीं कर पाता ? इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि इच्छा परतन्त्र है, परन्तु इच्छा का स्रोत स्वतन्त्र है ।

यह स्रोत है ईश्वर या विश्वचेतना । कुछ लोग समझते हैं कि ईश्वर एक व्यक्ति है, जो दुनिया के बाहर कहीं आकाश में बैठकर सारे संसार को अपनी इच्छा से संचालित करता है । पर वेदान्त कहता है कि यह ईश्वर विश्वचेतना है, जो सर्वव्यापक और सर्वत्र है । यदि हम अपने अज्ञान का परदा हटा लें, तो उससे घनिष्ठ सम्पर्क कायम कर सकते हैं । वह कहता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता तो यहीं और अभी, इस भ्रम के बीच---इन्द्रियों, शरीर और मन के इस संसार के बीच--विद्यमान है । शरीर में अवस्थित रहते हुए भी यदि हम अपने से शरीर-बोध अलग कर सकें, तो हम स्वतन्त्र हैं । यद्यपि हमें हमेशा इस स्वतन्त्रता का बोध नहीं रहता, पर कभी कभी आंशिक रूप से इसका बोध अवश्य होता रहता है और यही आंशिक बोध हमारी प्रतीयमान स्वतन्त्रता में झलकता है ।

प्रश्न यह है कि इस वास्तविक स्वतन्त्रता को कैसे खोजें और किस प्रकार दैनिक जीवन में उसे प्रयुक्त करें ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है---इस मन और इन्द्रियों के छोटे संसार के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग करो । स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से मुक्त होओ । अहंकार और प्रतीयमान इच्छा के मूल में पैठकर उनसे परे चले जाओ । अपने को सार्वभौम इच्छा से एकाकार कर लो ।

अपने को विश्वचेतना की क्रिया का एक माध्यम बना लो। सन्तों और पैगम्बरों के माध्यम से ईश्वर की इच्छा इसी प्रकार कार्य करती है, क्योंकि उनका अहंकार विनष्ट हो गया है, उनकी इच्छाओं का दमन हो गया है और उनकी शरीर के प्रति आसक्ति दूर हो गयी है।

शरीर और संसार के प्रति आसक्ति हटाने के दो मार्ग हैं। एक निषेधात्मक और दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक मार्ग 'नेति, नेति'--'यह नहीं, यह नहीं' वाला कठिन तपस्या का मार्ग है। विधेयात्मक मार्ग है 'इति, इति'---'सब कुछ वह है, सब कुछ वह है'। निषेधात्मक मार्ग वेदान्तियों द्वारा अपनाया जाता है। वे सतत यह चिन्तन करते रहते हैं कि वे शरीर, इन्द्रियाँ, मन और अहंकार नहीं हैं। वे हर श्वास के साथ दुहराते हैं—सोऽहं, सोऽहं'। वे समस्त स्वार्थपर इच्छाओं और आसक्तियों को समूल नष्ट कर डालते हैं। वे संसार की सत्यता को ही नकार देते हैं। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। इसमें विवेक की विलक्षण सामर्थ्य और प्रबल इच्छाशक्ति आवश्यक है। अपनी इच्छाशक्ति से तुम इस प्रतीयमान मिथ्या इच्छा को मिटा दो और तब वह इच्छा स्वयं सार्वभौम इच्छा में विलुप्त हो जायगी। गन्दे पानी के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए उसमें स्वच्छ करनेवाला तत्त्व, जैसे फिटकरी इत्यादि, डालते हैं। फिटकरी जल को स्वच्छ करने के पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है। जब यह लघु इच्छा उस महती प्रज्ञा में मिल जाती है, तब हम

विश्वचेतना द्वारा परिचालित होने लगते हैं। पर हम निष्क्रिय नहीं बन जाते। हम तो सार्वभौम चेतना के एक यंत्र बन जाते हैं और तब संसार का कल्याण करने की हमारी शक्ति अद्‌भुत रूप से बढ़ जाती है।

विधेयात्मक मार्ग का अनुसरण अपेक्षाकृत अधिक सरल है। हम सब जानते हैं कि हम बद्ध हैं। हम सब जानते हैं कि हम आसक्त हैं। परन्तु हमें इसी बन्धन से अपने को ऊपर उठाना होगा। हम संसार में हैं। हम संसार का उपभोग करना चाहते हैं। ठीक है, इसका उपभोग करो, पर याद रखो कि यह उपभोग इस संसार का अनुभव प्राप्त करने के लिए है और इस अनुभव का उपयोग अनासक्ति उत्पन्न करने के लिए है। पचीस वर्ष पूर्व जिन वस्तुओं का तुमने उपभोग किया था, आज वे तुम्हें अपनी ओर नहीं खींच पातीं। तुमने उनका अतिक्रमण कर लिया है। अतः उस अनुभव के द्वारा तुम अनासक्त बन गये हो। बिना अनुभव के कोई अनासक्ति नहीं हो सकती। यह अनासक्ति मुक्ति की ओर ले जाती है। यह कर्म का मार्ग कहलाता है। तुम इस संसार में हो, जो कर्म का क्षेत्र है। अवश्य कार्य करो। अपना कर्तव्य करो। कर्मफल का अनुभव करो। कर्म और उसके फल का विश्लेषण करो और तब अनासक्ति को उत्पन्न करो। अनासक्ति ही मुक्ति है।

भक्ति का भी अपना अलग पथ है। यदि तुम्हारा स्वभाव स्वीकार करता है, तो ईश्वर की इच्छा को सर्वोपरि

मानो। अपने को ईश्वर के हाथ एक यंत्र मात्र समझो। जब भी यह दुष्ट अहंकार जागे, उसे यह कहकर शान्त कर दो—"नहीं, ईश्वर की इच्छानुसार ही होगा।" तुम ईश्वर के यंत्र हो। अपने को ईश्वर का यंत्र समझकर जीवन में कर्म करो और फल की सारी आसक्ति छोड़ दो। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'—'मेरे ही सम्बन्ध में सोचो। मेरे प्रति भक्ति रखो। मेरी ही आराधना करो और मुझे ही नमस्कार करो।'

संसार का परित्याग करनेवाले संन्यासी ही निषेधात्मक मार्ग का अनुसरण करते हैं। बाकी सब लोग निष्काम कर्म या निःस्वार्थ प्रेम का विधेयात्मक पथ पकड़ते हैं।

संक्षेप में, स्वतन्त्रता ही हमारा स्रोत है। हमारी जड़ें स्वतन्त्रता में ही हैं। हम स्वतन्त्रता की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। स्वतन्त्रता ही हमारा लक्ष्य है। बीच में हम संसार के भँवर में—देश, काल और कार्य-कारण-नियम के चक्रवात में फँस जाते हैं और बन्धन का अनुभव करते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे जल की धारा मुक्तभाव से बहते बहते अचानक किसी गढ़े में गिरकर भँवर में फँस गयी और अन्तहीन चक्कर लगाने लगी, पर अन्त में वह फिर उसमें से निकलकर मुक्त धारा बन अनन्त सागर की ओर दौड़ पड़ी। जीवन का प्रवाह भी इसी जल की धारा के सदृश है। परमात्मा से जीवन की धारा निकलती है; वह देश, काल और कार्य-कारण-नियम से बँधे इस भौतिक संसार के गढ़े में गिरकर फँस जाती है

और अपने मुक्त स्वभाव को भूलकर 'मैं' और 'मेरे' की माया से भ्रमित हो, 'मेरा पिता', 'मेरी माता', 'मेरी पत्नी', 'मेरा समाज', 'मेरा देश', 'मेरा नाम', 'मेरा यश', 'मेरी सत्ता'-रूप भँवर का अन्तहीन चक्कर काटने लगती है। अन्त में वह इस भँवर से निकलती है और अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करती है। इच्छा की वास्तविक स्वतन्त्रता या तो ईश्वर के साथ संयोग होने पर प्राप्त होती है अथवा प्रतीयमान इच्छा को सार्वभौम इच्छा में विलीन कर देने पर। इस अनुभूति में सभी का जन्मसिद्ध अधिकार है।

(समाप्त)

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है।--सं०)

स्थान–रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

कनखल, हरिद्वार

१९१२

यह बड़ा पवित्र स्थान है, यहाँ जप-ध्यान जमाने में

अधिक कष्ट नहीं करना पड़ता—very atmosphere (वायुमण्डल) ही उत्तम है। माँ गंगा हैं और हिमालय का इतना गम्भीर भाव है कि आप ही आप मन मानो शान्त और गम्भीर हो जाता है। हवा में अनाहत ॐकार ध्वनि हो रही है। ऐसे स्थान में आकर, इस स्थान का advantage (लाभ) न ले केवल नींद में समय गँवाने से कैसे बनेगा? यहाँ साधन-भजन करते करते शरीर यदि नष्ट भी हो जाय, तो वह भी अच्छा।

मनुष्य-जन्म तो ज्ञान और भक्ति पाने के लिए ही है। वह यदि नहीं हुआ, तो व्यर्थ जीवित रहकर क्या लाभ? पशु के समान खाने, सोने और कुछ लड़के-बच्चे लेकर रहने के लिए जीवन नहीं मिला है। नर-शरीर में भगवान् का विशेष प्रकाश है। इसे समझने और इसकी धारणा करने का प्रयत्न करो। तुमने क्या सुना नहीं कि ठाकुर† के शिष्यों ने सत्य की उपलब्धि के लिए कितनी कठोर तपस्या की थी? उन लोगों ने अपने सामने जाज्वल्यमान दृष्टान्त देखा था। इसलिए वे लोग जितना कर सके थे, उतना तुम लोग न कर सकोगे।

तुम लोगों को जिससे साधन-भजन करने की सुविधा हो, इसलिए स्वामीजी‡ ने अपना जीवन देकर इतनी व्यवस्था की है। अहा! तुम लोगों की सुविधा के लिए over exertion (अधिक परिश्रम) करते करते उनकी life (आयु) इतनी कम हो गयी। कितना प्यार था उनका!

† श्रीरामकृष्ण देव। ‡ स्वामी विवेकानन्द।

तुम लोग नमकहराम मत होना। बंगाल से उन्हें बड़ी अपेक्षा थी। तुम लोग Young Bengal (बंगाल के नवयुवक) हो। अपना mission (कार्यभार) वे तुम लोगों के trust (भरोसे) में दे गये हैं---तुम लोग विश्वासघातक मत होना। ठाकुर, स्वामीजी के द्वारा जगत् में प्रकाशित हुए हैं। उनकी वाणी ठाकुर की ही वाणी है ऐसा समझना। ठाकुर इतने बड़े थे कि साधारण मनुष्य के मन द्वारा उन्हें समझना बहुत कठिन है। स्वामीजी उन्हें सर्वसाधारण मनुष्य के लिए उपयोगी बनाकर सबके सामने रख गये हैं। जो भाग्यवान है, उसे इस पताके के नीचे आना ही होगा।

स्वामीजी की पुस्तकें अच्छी तरह पढ़ना। जहाँ समझ नहीं सकोगे, वह शुद्धानन्द† या अन्य किसी से पूछकर समझ लेना। स्वामीजी ने ठाकुर का भाव इस प्रकार प्रकट किया है कि सर्वसाधारण लोग उसे समझ सकें। स्वामीजी का भाव बिना समझे ठाकुर का भाव ग्रहण करने की कोशिश करना पागलपन है। स्वामीजी की पुस्तकें और ठाकुर के उपदेश अच्छी तरह पढ़ो। खूब जप-ध्यान करो। मन को यदि अभी न गढ़ सको, तो पीछे पछताओगे। Best part of life (जीवन का सर्वोत्तम समय) यही है। इसका सद्व्यवहार करो। मन को एक बार गढ़ लेने से फिर भय नहीं है। तब उसे जिधर झुकाओगे, उधर ही झुकेगा। Trained (सिखाये हुए)

† स्वामी विवेकानन्द के शिष्य; रामकृष्ण मठ-मिशन के पाँचवें अध्यक्ष।

घोड़े के समान मन को भी control (वश) में लाना होगा। मन यदि control (वश) में आ गया, तो काफी काम हो गया। मन को always (सर्वदा) whip (चाबुक) लगाना। गलत रास्ते में थोड़ा जाते ही जोर से चाबुक मारना, सर्वदा धमकाना। रत्ती भर भी इधर उधर न होने देना।

साधन-भजन की पहली अवस्था में कुछ नियमों का पालन करना बहुत अच्छा है--इतने समय तक जप करूँगा, इतने समय तक ध्यान करूँगा, इतने समय तक पाठ करूँगा, इत्यादि। अच्छा लगे या न लगे, I must follow my routine (मैं अपने नियम का अवश्य पालन करूँगा)--इस प्रकार का एक हठ रखना चाहिए। कुछ दिन इस तरह करने से अभ्यास हो जाता है। जैसे अभी जप-ध्यान करना अच्छा नहीं लगता, उस समय ठीक उलटा होगा। तब जप-ध्यान नहीं करने से मन में बेचैनी होगी। जब मन की ऐसी अवस्था होगी, तब समझना कि लक्ष्य की ओर धीरे धीरे बढ़े जा रहे हो। भोजन न मिलने से, नींद न ले सकने से जैसे कष्ट होता है और मन छटपटाता है, भगवान् के लिए जब मन की ऐसी ही अवस्था होगी, तब समझना कि वे तुम्हारे सन्निकट हैं।

पहले अमृत की खोज कर लो, अमर हो जाओ—फिर जो भी हो, होने दो। वे चाहे कूड़े पर रखें या सिंहासन पर बिठाएँ, कोई हर्ज नहीं। एक बार पारसमणि को छूकर लोहा के सोना हो जाने से फिर कोई चिन्ता नहीं—उसे चाहे मिट्टी में गड़ाकर रखो या सन्दूक में

ताला लगाकर, सोना सोना ही रहेगा। ठाकुर कहते थे, "अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर जो इच्छा हो, करो।" अर्थात् ज्ञान-भक्ति का लाभ कर उन्हें जान लेने से, फिर जो भी काम क्यों न करो, उससे तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी। तब गलत रास्ते में पैर नहीं जायगा।

सन्मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं—महामाया सहज ही नहीं छोड़ देतीं। उनकी कृपा पाने के लिए खूब रोना पड़ता है, खूब प्रार्थना करनी पड़ती है। पूर्व जन्म के कितने संस्कार भरे हुए हैं, और फिर इस जन्म में भी थोड़े-बहुत संचित हो रहे हैं। सारा जीवन इन संस्कारों के साथ लड़ाई करते हुए बिताना होगा। संस्कारों के साथ जितना अधिक लड़ोगे, वे संस्कार भी तुम्हें उतने ही अधिक जोर से धक्का देते रहेंगे। उस समय उद्देश्य को न भूलकर जो अपने लक्ष्य को पकड़कर बढ़ता जाता है, वही जयी होता है।

मनुष्य के अन्दर दो वृत्तियाँ हैं—"कु" और "सु"। इन दोनों में खूब लड़ाई होती है। एक भोग की तरफ खींचना चाहती है, और दूसरी त्याग की ओर ले जाना चाहती है। इनकी हार-जीत पर मनुष्य का मनुष्यत्व और पशुत्व निर्भर करता है।

भोग-वासनापूर्ण संसार में मनुष्य अपनी आँखों के सामने नाना प्रकार के विषयों को देखकर इतना मुग्ध हो जाता है कि वह यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझता कि इसका और भी एक दूसरा पहलू है। वह सोचता है, जब यह निश्चित ही नहीं कि कभी

कुछ होगा या नहीं, तो फिर मिली हुई चीजों को क्यों त्याग दूँ ? अर्थात् भगवान्-लाभ होगा या नहीं, सच्चा आनन्द मिलेगा या नहीं, इसका जब कोई निश्चय नहीं, और जब संसार का भोग करना मेरी शक्ति के भीतर की बात है, तो फिर इसे क्यों छोड़ूँ ? यह सोचकर वह आग में कूद पड़ता है। आखिर में जब वह जल-भुनकर भस्म होने लगता है, तब सोचता है कि मैंने यह क्या किया। तब शान्ति चाहता है। Too late (अति विलम्ब से) चाहने पर शान्ति पायगा कहाँ से ? संयमहीन जीवन विताकर उसने अपने को ऐसे स्वभाव का दास बना लिया है कि इच्छा होने पर भी अब कुछ करने का उपाय नहीं है।

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

कनखल, हरिद्वार

१९१२

सभी सुख चाहते हैं, दुःख-कष्ट भला कौन पाना चाहता है ? पर सुख कहाँ से मिलेगा ? सभी सुखों के मूल भगवान् को दूर रखकर व्यर्थ की वस्तुओं के पीछे दौड़ने से क्या सुख मिल सकता है ? कितने प्रकार के खिलौने देकर भगवान् हमें भुलाये रखते हैं ! उन सब खिलौनों को दूर फेंककर उन्हें पुकारो, वे दौड़ते हुए आकर तुम्हें अपनी गोद में उठा लेंगे। खिलौना चाहोगे तो खिलौना पाओगे, उन्हें चाहोगे तो उन्हें पाओगे—एक को छोड़ना पड़ेगा ही।

खेल तो बहुत बार हुआ—इस बार खेल छोड़कर माँ को तो जरा पुकारो। देखो न, जिस वच्चे को खिलौना

अच्छा लगता है, माँ उसे खिलौना देकर भुलाये रखती है, और जिस बच्चे को खिलौना अच्छा नहीं लगता और जो खेलना भी नहीं चाहता, माँ उसे हमेशा अपने पास ही रखती है, गोद में लेकर घूमती है। माँ की गोद में कितना मजा, कितना आनन्द है, यह तो वही जान सकता है, जो माँ की गोद में रहता है। जो बच्चा खिलौना लेकर भूला रहता है, वह माँ के पास से केवल खिलौना ही पाता है। किन्तु खिलौना नाना अनर्थों को सृष्टि करता है। कभी वह हाथ से गिरकर फूट ही गया, कभी उसे लेकर साथी के साथ झगड़ा ही हो गया,—शायद उसनें दो चपत ही जमा दी! इसी तरह नाना प्रकार के दुःख-कष्ट भोगने पड़ते हैं। पर जो बच्चा माँ की गोद में रहता है, उसे इन सब बातों की कोई चिन्ता नहीं। वह जानता है, मुझे जब जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, माँ ही दे देगी।

ठाकुर की अमराई वाले माली की कहानी बड़ी सुन्दर है। "आम खाने आये हो, आम खाओ—कितनी डालियाँ हैं, कितने पत्ते हैं, यह सब जानने की क्या आवश्यकता? आम खाओ, तो पेट भरेगा।" ईश्वर को पाने संसार में आये हो। पहले उन्हें पाकर धन्य हो जाओ। अपनी चिन्ता पहले करो, अपने पथ की आवश्यक वस्तुएँ पहले ठीक करो, यहाँ क्यों आये हो इस प्रश्न का समाधान पहले कर लो। खूब साधन-भजन करो, अमृत-कुण्ड में गिरकर अमर हो जाओ, दिन-रात उनके पास प्रार्थना करो। भगवान् का नाम और स्मरण जिस किसी

भी प्रकार से क्यों न करो, उससे कल्याण ही होगा। जिस नाम से, जिस प्रकार से पुकारना अच्छा लगता है, उसी प्रकार से पुकारो। पुकारने से उनके दर्शन अवश्य होंगे।

पार्वती ने महादेव से पूछा था——"प्रभो! सच्चिदानन्द-रूप की चाबी कहाँ है?" महादेव बोले——"विश्वास में।" तुम लोगों को तो रास्ता पकड़ा दिया गया है——विश्वास के साथ साधना करो। तुमने अमूल्य वस्तु पायी है——जी-जान से लग जाओ, culture (अनुशीलन) करो। इस प्रकार से साधना करेंगे या उस प्रकार से साधना करेंगे इत्यादि विषय लेकर माथापच्ची करके समय नष्ट मत करो। उन्हें पुकारने से उसका फल मिलता है, फिर वह पुकारना किसी भी तरह से क्यों न हो। ठाकुर कहते थे, "मिश्री की रोटी सीधी करके खाओ या टेढ़ी करके, खाने से वह मीठी ही लगेगी।" तुम लोग तो कल्पतरु के नीचे बैठे हो—जो चाहोगे, वही पाओगे।

स्वयं को अधिक चालाक मत समझना। अपने को चतुर समझना अच्छा नहीं। कौआ अपने को बड़ा चालाक समझता है, पर विष्ठा खाकर मरता है। इस संसार में जो लोग ज्यादा चालाकी करने जाते हैं, वे अपने को ही ठगकर मरते हैं।

विश्वास लेकर डूब जाओ——अगाध जल में डूब जाओ। वस्तु निश्चय ही मिलेगी। थोड़ी साधना करने के बाद ऐसा सोचकर हताश मत होना कि ईश्वर-दर्शन नहीं हुआ। समुद्र में बहुत से रत्न हैं; एक डुबकी में रत्न न मिले, तो समुद्र को रत्नहीन मत समझ लेना।

ठाकुर कहते थे, "समुद्र में एक प्रकार की सीपी है, वह हमेशा मुँह खोलकर जल पर तैरती रहती है; किन्तु स्वाति-नक्षत्र का एक बूँद जल उसके मुँह में पड़ते ही वह एकदम जल के नीचे चली जाती है, फिर ऊपर नहीं आती।" तुम लोगों ने भी गुरुकृपारूपी जो एक बूँद जल पाया है, उसे लेकर अब साधनारूपी अगाध समुद्र में डूब जाओ और दूसरी ओर मत देखो।

धीरज धरकर साधना करते चलो——उनकी कृपा यथासमय तुम पर होगी ही। जैसे किसी धनी आदमी के पास जाने के लिए चौकीदार और सिपाही की बड़ी खुशामद करनी पड़ती है, वैसे ही ईश्वर के पास जाने के लिए बहुत साधन-भजन और सत्संग करना पड़ता है। उनका दर्शन पाने के लिए, उनकी कृपा पाने के लिए उन्हें अपने से भी अपना जानकर सरल शिशु के समान व्याकुल हृदय से रोना होगा। शिशु का रोना सुनकर माँ क्या ठहर सकती है? भगवान् भी उसी प्रकार दौड़े आते हैं, दर्शन दिये बिना नहीं रह पाते।

जी-जान से परिश्रम कर वस्तु को पा लो। मन को ठीक ध्रुवमत्स्य यंत्र की सुई के समान रखना होगा। जहाज जिस किसी स्थान में क्यों न रहे, यंत्र की सुई ठीक उत्तर की ओर ही रहती है, इसीलिए जहाज की दिशा में गलती नहीं होती। मनुष्य का मन भी यदि ईश्वर की ओर रहे, तो फिर उसे कोई भय नहीं। हजारों बुरे आदमियों के बीच पड़ने से भी उसके विश्वास और

भक्ति में कोई कमी नहीं होती। भगवत्-प्रसंग होते ही वह ईश्वर-प्रेम में उन्मत्त हो जाता है। यह कैसे होता है, जानते हो ? जैसे सौ वर्ष तक पानी में पड़े रहने पर भी चकमक पत्थर की अग्नि नष्ट नहीं होती——उसे उठाकर लोहे से घिसते ही उसमें की अग्नि प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर को पाकर जो धन्य हो गया है, वह किसी भी दशा में अन्य वस्तुओं में अपना मन नहीं लगा पाता। वह तो केवल उन्हें ही लेकर रहता है। भगवत्-कथा और साधु-भक्तों का संग छोड़ उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वह आँधी में उड़ती हुई पत्तल के समान पड़ा रहता है—उसमें अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं रहता, ईश्वर-कृपा की हवा उसे जिधर ले जाती है, वह उधर ही चला जाता है। तब वह संसार में भी रह सकता है और सच्चिदानन्द-सागर में भी डुबकी लगा सकता है।

तुम लोगों का मन अभी वासनाहीन, सरल और निर्मल है। तुम लोगों का यह स्वभाव जिससे पक्का हो जाय, वैसी चेष्टा करो। एक बार यदि मन अन्य प्रकार का हो गया, तो फिर कोई उपाय नहीं। वासनाहीन मन कैसा होता है, जानते हो ? जैसे सूखी दियासलाई,——एक बार घिसते ही जल उठती है। किन्तु यदि वह भीग जाय, तो घिसते घिसते दियासलाई की सींक ही टूट जाती है, पर जलती नहीं। उसी प्रकार मन में एक बार संस्कार पड़ जाने पर फिर सौ बार कोशिश करने पर भी वह दूर नहीं होता।

स्वामी अचलानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १९०० ईस्वी की बात है। काशी का एक नवयुवक न जाने कैसे श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द की बातें सुनकर पुलिस मुहकमे की सरकारी नौकरी को लात मारकर विरक्त हो उठा है। उसके परिजन समझते हैं कि दक्षिणेश्वर के किसी साधु के चेले ने उसका दिमाग खराब कर दिया है, तभी तो राजा जैसी चाकरी को छोड़कर बनारस की गलियों में असहाय, बीमार लोगों को खोजता फिरता है और उनकी सेवा में खाना-पीना तक भूल जाता है। ऐसा भला क्यों ? इस-लिए कि उसने युगाचार्य के नये युगधर्म को जान लिया है। 'शिवज्ञान से जीवसेवा' उसके जीवन का व्रत बन गयी है। वह युवक सोचता है कि वह साधु नहीं बनेगा। इसी तरह दीन-दुखियों की सेवा कर अपना जीवन कृतार्थ कर लेगा। इसीलिए काशी में उसने अपने समान विचार-वाले मित्रों के साथ एक सेवाकेन्द्र प्रारम्भ किया है। वह अपने मित्र यामिनी और चारुचन्द्र के साथ आर्त और पीड़ितों की सहायता करता है तथा नित्यप्रति स्वामी विवेकानन्द की ग्रन्थावली का पाठ और जप-ध्यान भी किया करता है।

आखिर माँ-बाप कब तक अपने जवान और बेकार बेटे को घर में बिठाकर रोटियाँ खिलाएँगे ? और अगर विमाता घर पर हो, तब तो पुत्र को घर में बड़ी मुश्किल

से जगह मिल सकती है। यही बात इस नवयुवक के साथ भी हुई है। एक तो पुलिस की नौकरी छोड़कर घर पर बैठना ही परिवार के लिए वज्राघात के समान था, दूसरे वह कोई और नौकरी भी नहीं करना चाहता था और संसार के प्रति उदासीन-सा हो गया था। सहने की भी सीमा होती है। एक दिन उसके पिता ने उससे साफ साफ कह दिया कि इस प्रकार घर पर उसका गुजारा नहीं हो सकेगा। अगर यूँ ही जीवन बिताना हो, तो उसे घर छोड़ना पड़ेगा। नवयुवक को पिता की बात लग गयी और वह अपने कमरे की दीवाल से श्रीरामकृष्ण देव की छबि उतारकर सबके देखते ही देखते घर से बाहर निकल पड़ा। इस घटना का स्मरण करते हुए वह बाद में कहा करता था, "मैं सोचता था कि मेरे लिए साधु बनना सम्भव नहीं होगा। पर हाँ, विवाह नहीं करूँगा और स्वाधीन रूप से निष्ठापूर्वक अपना जीवन काट लूँगा। किन्तु मेरे सोचने से क्या होता है? ठाकुर ने मुझे ऐसी परिस्थिति में डाल दिया कि मुझे बाध्य होकर संसार से बाहर निकलना पड़ा। अगर यह घटना न घटती, तो स्वामीजी महाराज की कृपा प्राप्त करना मेरे भाग्य में न होता।"

हाँ, संसार से निःसम्बल निकलकर ही इस नवयुवक को युगाचार्य विवेकानन्द के पाद-प्रदेश में स्थान मिल सका था। स्वामीजी ने इस सेवाभावी युवक के अन्तरंग को जानकर अपनी अहैतुकी कृपा की वर्षा से इसके जीवन

को धन्य बना दिया था। उन्हीं के अमृतमय संस्पर्श से यह युवक कालान्तर में स्वामी अचलानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु स्वामीजी की कृपा प्राप्त करने के लिए उसे अनेकानेक बाधाओं को पार करना पड़ा था।

स्वामी अचलानन्द का पूर्व नाम था केदारनाथ मौलिक। उनके पिता श्री शम्भुचन्द्र मौलिक बनारस के सोनारपुरा मुहल्ले के निवासी थे। उनकी निश्चित जन्म-तिथि तो ज्ञात नहीं है, पर सम्भवतः सन् १८७६ ई० में किसी समय केदारनाथ का जन्म हुआ था। केदारनाथ की माता का देहावसान उनके शैशव में ही हो गया था। फलतः वे अपने पितामह रामचन्द्र मौलिक की देखरेख में बड़े हुए तथा शिक्षा प्राप्त की। बाल्यकाल से वे बनारस में ही रहे, अतः वे बँगला नहीं पढ़ सके, किन्तु उनका उर्दू-फारसी पर अच्छा अधिकार था। केदारनाथ के घर पर एक अच्छा पुस्तकालय था। फलतः उनका और उनके मित्रों का सारा समय वहीं बीता करता। चारुचन्द्र दास केदारनाथ के घनिष्ठ मित्रों में से थे तथा उन्हीं के माध्यम से उन्होंने श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सम्बन्ध में जाना था।

चारुचन्द्र स्वामी विवेकानन्द के शिष्य स्वामी शुद्धानन्द से परिचित थे। सन् १८९९ में जब 'उद्बोधन' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ, तब शुद्धानन्द ने चारुचन्द्र को बनारस में इसके कुछ ग्राहक बनाने का अनुरोध किया था और कुछ प्रतियाँ भी भेज दी थीं। चारुचन्द्र ने अपने एक मित्र हरिनाथ से कहा था कि वह 'उद्बोधन' की

प्रति केदारनाथ को दिखाकर उसे ग्राहक बना ले। हरि-
नाथ ने इसके लिए प्रयत्न भी किया, स्वामी विवेकानन्द
की लिखी प्रस्तावना भी उसने केदारनाथ को पढ़कर
सुनायी, पर केदारनाथ पर इसका कुछ भी असर नहीं
पड़ा। उस समय केदारनाथ पुलिस की नौकरी में नये
नये ही थे। उन्होंने कहा कि लेखक की भाषा बड़ी गोल-
मोल है और वह उनके पल्ले नहीं पड़ेगी। अन्त में
हरिनाथ निराश होकर वापस लौट आया। तब चारुचन्द्र
स्वयं गये और पुनः उन्हें स्वामीजी की लिखी प्रस्तावना
सुनायी। इस बार केदारनाथ को सब-कुछ नया नया सा
लगा। उन्होंने तत्काल 'उद्‌बोधन' का चन्दा दे दिया और
स्वामीजी की 'राजयोग' तथा अन्य पुस्तकें भी मँगा लीं।
वस्तुतः यहीं से उनका परिचय श्रीरामकृष्णदेव और
स्वामी विवेकानन्द की भावधारा से हुआ, जिसने काला-
न्तर में उनके समूचे जीवन को ही परिवर्तित कर दिया।
इस घटना के बारे में वे बाद में कहा करते थे, "उसका
(चारुचन्द्र का) इतना आग्रह देख मैं बड़ी अनिच्छा से
स्वामीजी की रचना सुनने के लिए तैयार हुआ। पर बड़े
आश्चर्य की बात यह हुई कि जो प्रस्तावना इसके पहले
मुझे अत्यन्त जटिल प्रतीत हुई थी, उसी को चारु बाबू के
मुख से सुनकर मुझे इतना अच्छा लगा कि क्या कहूँ। मैं
मन ही मन बड़ा लज्जित हुआ कि इतनी सुन्दर वस्तु को
मैंने इसके पहले नापसन्द कर दिया था। उसी समय से
मैंने 'उद्‌बोधन' रखना शुरू किया। फिर तो रोज रात

को लाइब्रेरी में इसी विषय पर चर्चा चला करती।"

उन दिनों श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्य स्वामी निरंजनानन्द जी सोनारपुरा के वंशी दत्त के बाग में निवास करते हुए तपस्या में रत थे। चारुचन्द्र के सुझाव पर एक दिन उन्हें लाइब्रेरी में बुलाने का निश्चय किया गया। अभ्यागतों के बैठने की व्यवस्था करने का भार केदारनाथ पर ही था। चारुचन्द्र के घर में श्रीरामकृष्ण देव की छवि थी। वे उसे वहाँ लाकर रख गये। केदार-नाथ ने इससे पहले श्रीरामकृष्ण देव की कोई तस्वीर नहीं देखी थी। छबि को देखते ही उनके हृदय में मानो श्रद्धा-भक्ति का पारावार उमड़ने लगा। वे दीप जलाकर एकटक देखते ही रहे। उन्होंने बाद में कहा था, "छवि को देखकर मुझे इतना अच्छा लगा कि क्या कहूँ! मुझे मन में प्रतीत हुआ कि ये मेरे बहुत पहले से परिचित और मेरे परम आत्मीय हैं। वे लोग तो छबि रखकर माला लाने चले गये और मैं लाइब्रेरी में बैठे बैठे बार बार तस्वीर की ओर ताकता रहा। मुझे ऐसा लगा, मानो यह छवि जीवन्त है तथा मेरी ओर देखकर हँस रही है। मैं जिधर भी मुँह करता, वह मूर्ति मेरे सामने आ जाती। इसी प्रकार बहुत समय बीत गया और मैं विह्वल हो गया। मेरे मन में तब यह बात उदित नहीं हुई कि ये भगवान् हैं या महापुरुष हैं। मुझे केवल यही लगा कि मैं अपने चिराकांक्षित प्रियजन का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया हूँ।"

स्वामी निरंजनानन्द जी को देखकर केदारनाथ के आनन्द की सीमा न रही। वे श्रीरामकृष्ण देव की अलौकिक लीलाओं को सुनकर मुग्ध हो गये। निरंजनानन्द जी के पुनीत साहचर्य में केदारनाथ की आध्यात्मिकता का प्रवाह उद्वेलित हो उठा। इस प्रवाह के उद्दाम वेग के समक्ष संसार और नौकरी सब कुछ तिरोहित हो गया। वैराग्य के प्रखर होने पर उन्हें अपनी नौकरी सबसे बड़ी बाधा प्रतीत होने लगी। वे नौकरी से त्यागपत्र देकर पूरी तरह से ध्यान-धारणा में निमग्न हो गये। इसी बीच स्वामी कल्याणानन्द काशी पहुँचे और कुछ दिनों तक वे केदारनाथ के घर पर ही रहे। उन्हीं से केदारनाथ स्वामी विवेकानन्द जी के सेवा के महान् आदर्श से अवगत हुए तथा काशी में रुग्णों और पीड़ितों के उपचार के कार्य में जुट गये। उनका मन संसार से पूर्णतया उदासीन हो चला। एक दिन चारुचन्द्र ने उन्हें प्रबोधित-सा करते हुए कहा, "और देरी क्यों? इस बार निकल ही पड़ो।" केदारनाथ निकलना तो चाहते थे, पर वे यह सोच नहीं पा रहे थे कि वे कहाँ जायँ। स्वामी निरंजनानन्द उन दिनों हरिद्वार में तपस्यारत थे। जब उन्हें चारुचन्द्र से केदारनाथ की मनःस्थिति की जानकारी मिली, तो उन्होंने केदारनाथ को हरिद्वार बुला लिया। केदारनाथ तो यह चाहते ही थे। हरिद्वार पहुँचकर उन्होंने निरंजनानन्द जी को प्रणाम किया और कहा, "श्रीश्रीठाकुर के चरणों में आश्रय पाने की आशा से मैं घर छोड़कर

आपके पास आया हूँ।" निरंजनानन्द जी ने बड़ी प्रसन्नता से केदारनाथ का स्वागत किया तथा वहाँ रहकर साधना करने के लिए कहा। केदारनाथ उनके निर्देशन में शीघ्र ही आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये।

अत्यधिक तितिक्षा के फलस्वरूप निरंजनानन्द जी का स्वास्थ्य गिर गया था तथा उन्हें रक्त-आमाशय की व्याधि हो गयी थी। चिकित्सा के लिए वे कलकत्ता चले गये और कुछ ही दिनों में केदारनाथ को भी वहीं बुला लिया। इस अवसर पर केदारनाथ को स्वामी ब्रह्मानन्द जी तथा श्रीरामकृष्ण देव की अन्य त्यागी सन्तानों के दर्शन हुए। केदारनाथ बड़े संकोची स्वभाव के थे। वे ब्रह्मानन्द जी से वार्तालाप तो करना चाहते थे, किन्तु संकोच के कारण श्रीरामकृष्ण देव के इन लीलापार्षद की ओर सतृष्ण दृष्टि से निहारते भर रहते थे। ब्रह्मानन्द जी ने केदारनाथ के मनोभाव को पकड़ लिया और एक दिन उनसे कहा, "अच्छा, जरा मेरी देह तो दबा दो।" केदारनाथ बड़ी श्रद्धा से उनके चरण दबाने लगे। सहसा ब्रह्मानन्द जी ने उनका हाथ अपने हाथ में ले लिया और तौलते हुए-से बोले, "वाह, बहुत अच्छा! थोड़ा कुछ करने से ही होगा।" ब्रह्मानन्द जी की कृपा की स्मृति से अभिभूत होकर उन्होंने बाद में बताया था, "उन्होंने दबाने के बहाने मुझे अपने समीप खींच लिया और थोड़ी ही देर में मुझे अपने स्नेहपाश में जकड़कर बाँध लिया।"

कुछ दिनों तक मठ में वास कर केदारनाथ पुनः

काशी पहुँचे। किन्तु अब उनका मन घर में नहीं लग रहा था। निरंजनानन्द जी ने उन्हें श्रीमाँ के दर्शन का परामर्श दिया। केदारनाथ श्रीमाँ के समीप जयरामबाटी पहुँचे। भक्तवत्सला श्रीमाँ ने केदारनाथ को देखते ही कहा, "यह लड़का साधु होगा।" श्रीमाँ के मंगलमय संस्पर्श में दो माह बिताकर जब केदारनाथ काशी पहुँचे, तब वहाँ का सेवाकेन्द्र यामिनी और चारुचन्द्र के प्रयास से 'अनाथाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था तथा उसकी गतिविधियाँ बढ़ गयी थीं। श्री प्रमदादास मित्र के सभापतित्व में उसका निरन्तर विकास हो रहा था। केदारनाथ ने भी पूरे मनोयोग से सेवा-कार्य करना प्रारम्भ किया। पर कुछ ही दिनों के बाद उन्हें गृहत्याग करना पड़ा। तब वे एक शिवमन्दिर में रहकर आश्रम का कार्य देखा करते। इसी बीच राजस्थान में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था तथा स्वामी कल्याणानन्द वहाँ सहायता-कार्य का संचालन करने गये हुए थे। उनके अस्वस्थ होने के समाचार पा, केदारनाथ उनकी सहायता करने किशनगढ़ चले आये और सहायता-कार्य में जी-जान से लग गये।

अब तक स्वामी विवेकानन्द विदेशों में वेदान्त की दुन्दुभी बजाकर भारत लौट आये थे और बेलुड़ मठ में निवास कर रहे थे। उनके दर्शन की इच्छा से केदारनाथ भी मठ पहुँचे। यद्यपि वे दो हफ्तों के लिए वहाँ आये थे, पर स्वामीजी के दैवी व्यक्तित्व से आकर्षित हो पूरे नौ महीने वहाँ रहे। केदारनाथ का यह परम सौभाग्य

था कि उन्हें नौ महीनों तक युगाचार्य के चरणों के समीप रहने और उनकी सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वामीजी के अलौकिक प्रेम की धारा ने केदारनाथ को पूर्णतः परिष्कृत कर दिया। स्वामीजी उन्हें स्नेहपूर्वक केदार बाबा कहा करते। एक दिन उन्होंने कहा, "बाबा, क्या तू मुझे सुला सकेगा ? तब तो मैं तुझे तेरी मनो-वांछित वस्तु प्रदान करूँगा।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था, "जा, तुझे कुछ भी नहीं करना होगा। तेरा सब कुछ अपने आप हो जायगा।"

केदारनाथ को स्वामीजी के अनेकानेक गुणों से युक्त जीवन-प्रसंगों को निकट से देखने का अवसर मिला था। उन्होंने स्वामीजी के उस महान् प्रेमपूर्ण हृदय का परिचय प्राप्त किया था, जो चर-अचर सबके प्रति समान रूप से अपनी प्रेमराशि वितरित करता था। उन्होंने स्वामीजी को ध्यान की गहराई में डूबते देखा था तथा देहभानशून्य समाधि में लीन होते हुए भी। एक बार केदारनाथ ने भाव-गम्भीर स्वर में स्वामीजी को यह भी कहते सुना था, "दो सौ साल बाद लोग विवेकानन्द के एक-एक केश के लिए तरसेंगे !"

केदारनाथ प्रारम्भ में तो मूक भाव से स्वामीजी की सेवा करते रहे, किन्तु उन्हें संन्यास-धर्म में दीक्षित होने की साध निरन्तर व्याकुल किये रहती। एक दिन उन्होंने एकान्त पाकर अपनी यह चिरकांक्षित साध स्वामीजी के सामने रखी। स्वामीजी ने पूछा, "क्या तू दस घरों से

भीख माँगकर खा सकेगा ?" केदारनाथ ने तत्काल उत्तर दिया, "आपकी कृपा से मैं ऐसा कर सकूँगा।" स्वामीजी की महती कृपा से सन् १९०२ की बुद्ध पूर्णिमा की गम्भीर रात्रि में केदारनाथ संन्यास के अग्नि-मंत्र में दीक्षित हुए तथा स्वामीजी ने उनकी अचल श्रद्धा-भक्ति को देखकर उन्हें 'अचलानन्द' नाम प्रदान किया। अचलानन्द स्वामीजी के अन्तिम संन्यासी शिष्य थे, क्योंकि उनके बाद स्वामीजी ने और किसी को संन्यास की दीक्षा नहीं दी थी।

अचलानन्द गुरु और संघाध्यक्ष को एकरूप समझते थे। एक बार जब वे मठ में कहीं जा रहे थे, तो स्वामीजी ने उन्हें बुलाया। उस समय स्वामीजी के साथ मठ के अध्यक्ष ब्रह्मानन्दजी भी बैठे हुए थे। अचलानन्द ने आकर दोनों महापुरुषों को प्रणाम किया। स्वामीजी ने उनसे कहा, "जा, फूल ले आ।" अचलानन्द तत्काल फूल लेकर पहुँचे। स्वामीजी बोले, "ले, मेरी पूजा कर।" अचलानन्द की मानो जन्म-जन्मातर की साध को युगाचार्य ने खेल-खेल में पूरा कर दिया। बड़ी श्रद्धा-भक्ति से अचलानन्द ने स्वामीजी के चरणों में फूल समर्पित करते हुए प्रणाम किया। फिर स्वामीजी ने कहा, "जा, और एक बार फूल ले आ।" अचलानन्द पुनः फूल ले आये। इस बार स्वामीजी ने कहा, "ले, अब अध्यक्ष की पूजा कर। गुरु और अध्यक्ष को एक जानना। सभी विषयों में अध्यक्ष की बात मानना।" अचलानन्द के जीवन में इस गुरुवाक्य का केवल एक बार उल्लंघन हुआ था।

उन दिनों अचलानन्द हरिद्वार में स्वामी तुरीयानन्द जी के साथ निवास करते हुए साधना कर रहे थे। उनका जीवन कठोर तितिक्षा से युक्त था। अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप उनका शरीर धीरे धीरे टूटने लगा। जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी को इसका पता चला, तो उन्होंने बार बार अचलानन्द के पास सन्देशा भेजा कि वे इतनी कठोरता न करें। पर अचलानन्द आध्यात्मिक साधना में इतनी गहराई से डूब चुके थे कि उन्होंने ब्रह्मानन्दजी की बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। फलतः उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर कुछ ही समय में टूट गया। अचलानन्द के स्वास्थ्य-भंग का समाचार पाकर ब्रह्मानन्दजी ने उन्हें अपने पास बुला लिया। उनकी भग्न देह को देख ब्रह्मानन्दजी को बड़ा दुःख हुआ; वे बोले, "हाय, केदार बाबा! तू तो हरि भाई के पल्ले पड़ गया। इतना सुन्दर, सबल और दृढ़ शरीर तूने नष्ट कर दिया। खैर, जो होना था सो हो गया, पर अब तू मेरे पास रह।" इस घटना का स्मरण करते हुए अचलानन्द बार बार दुःख प्रकट करते हुए कहा करते कि उन्होंने गुरु के आदेश का पालन नहीं किया, इसी से उनका स्वास्थ्य नष्ट हुआ है। बाद में उन्होंने मठाध्यक्ष की प्रत्येक बात को गुरु-वाक्यवत् स्वीकार किया था।

स्वामी विवेकानन्दजी काशी में वेदान्त-प्रचार का केन्द्र स्थापित करना चाहते थे तथा उन्होंने शिवानन्दजी पर इस कार्य का भार सौंपा था। उनकी सहायता के लिए उन्होंने अचलानन्द को नियुक्त किया। श्रीगुरु के

चरणों में प्रणाम कर सन् १९०२ के जून मास में वे शिवानन्दजी के साथ काशी चले आये। अचलानन्द का यही अन्तिम गुरु-दर्शन था। बाद में उन्हें स्वामीजी की मर्त्यलीला के अवलोकन का अवसर नहीं मिला था। सन् १९०४ तक अचलानन्द काशी में रहे तथा 'श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम' का कार्य देखते रहे। उन्हें जप-ध्यान में पूरी तरह से डूब जाने की बड़ी इच्छा होती, किन्तु ब्रह्मानन्दजी नें उनसे कहा था कि सेवाश्रम की इमारत का कार्य समाप्त करने पर ही उन्हें छुट्टी मिल सकेगी। अचलानन्द ने ब्रह्मानन्दजी की आज्ञा का पूरी तन्मयता से पालन किया।

सन् १९०४ में अचलानन्द स्वामी रामकृष्णानन्दजी की सहायता के लिए मद्रास पहुंचे। सन् १९१० में उन्हें रामकृष्ण मठ और मिशन का ट्रस्टी चुना गया तथा सन् १९३८ में वे उपाध्यक्ष बना दिये गये। सन् १९१२ में जब श्रीमाँ सारदा देवी काशी पहुँची थीं, तब अचलानन्द वहीं थे। सेवाश्रम का कार्य देख श्रीमाँ बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं, "यहाँ ठाकुर स्वयं विराजमान हैं और जगन्माता लक्ष्मी भी पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हैं।" सन् १९१६ में अचलानन्द स्वामी विशुद्धानन्द के साथ जयरामवाटी भी गये थे तथा जगज्जननी श्रीमाँ के सन्तानवत्सला रूप को देखकर अभिभूत हुए थे। एक दिन रात्रि को आहार के बाद श्रीमाँ ने उन्हें और विशुद्धानन्द को बुलवाया। उन्होंने जाकर देखा कि श्रीमाँ दोनों हाथों में गरम दूध के दो गिलास लेकर खड़ी हैं। यद्यपि ठाकुर की तिथि-

पूजा के उपलक्ष में वहाँ अन्य भक्तगण भी आये हुए थे, पर श्रीमाँ ने उन दोनों को ही बुलाया था। वे दूध पीने में संकोच करने लगे। इस पर श्रीमाँ ने कहा, "पी लो बेटा, वे लोग तो अपने अपने घर में कितना खाते हैं! पर तुम लोगों को और कौन खिलाएगा?"

अचलानन्द जिज्ञासु भक्तों और ब्रह्मचारियों के लिए प्रेरणा के महान् स्रोत थे। शिक्षित नवयुवकों से वे कहते, "भाई, कितने जन्म बीत गये! क्या तुम स्वामीजी के लिए एक जन्म नहीं दे सकते? भाई, क्या एक जन्म स्वामीजी के कार्य के लिए निवेदित नहीं कर सकोगे? स्वामीजी ने बंग-युवकों का कितना आह्वान किया है! उन्होंने चाहा है कि इस आदर्श-पथ का अनुसरण कर तुम सब लोग चलो। क्या ऐसा नहीं कर सकोगे, भाई? अरे, क्या होगा, दे दो एक जीवन उनकी सेवा में, उनके कार्य में।"

अचलानन्द श्रद्धा और प्रेम को संघ की मूल भित्ति मानते थे। नवागत साधु-ब्रह्मचारियों से वे कहते, "आध्यात्मिकता ही संघ की प्राणशक्ति है। पूज्यपाद स्वामीजी ने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय' संघ की स्थापना की है। श्रीश्री ठाकुर ने कहा है, 'ईश्वर-लाभ ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।' कर्म कभी भी उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म तो केवल एक उपाय है। स्वामीजी कर्म की बात अवश्य करते थे, किन्तु नित्य-नियमित जप-ध्यान करने के लिए भी सदैव प्रेरित करते रहते थे।"

अचलानन्द की शिक्षा-प्रणाली बड़ी मधुर थी। वे

नये साधुओं को आध्यात्मिकता के पथ पर अग्रसर करते हुए कहा करते, "देखो भाई, सभी समय वैराग्य को जगाये रखना। तुम तो घर में मजे में थे, फिर माँ-बाप, आत्मीय-स्वजन को रुलाकर यहाँ क्यों आये ? भगवान् को पाने के लिए ही तो ? तब यहाँ उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा यदि न करो, तो तुम्हारे यहाँ आने से क्या लाभ हुआ ? यहाँ जैसे दुःख-कष्ट हैं, संसार में भी वैसे ही दुःख-कष्ट हैं। फिर अन्तर क्या है ? यही कि संसार में अनित्य विषयों के लिए दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है और यहाँ नित्य विषय के लिए। यदि दुःख-कष्ट भोगना ही है, तो अच्छा यह होगा कि अनित्य के लिए न भोगकर नित्य के लिए भोगा जाय।"

अन्त अन्त में अचलानन्द वार्धक्यजन्य अनेकानेक व्याधियों से घिर गये थे, पर उनकी साधना अव्याहत चलती रहती। एक बार जब तत्कालीन मठाध्यक्ष स्वामी विरजानन्द काशी पहुँचे, तो उन्होंने कर जोड़कर उनसे प्रार्थना की, "मैं इस जीर्ण शरीर का भार अब और वहन नहीं कर पा रहा हूँ। कृपया मुझे छुट्टी दीजिए।" अचलानन्द का विश्वास था कि संघाध्यक्ष की स्वीकृति पर उन्हें छुट्टी मिल जायगी। ११मार्च, सन् १९४७ को प्रातः ८ बजे स्वामी विरजानन्द के हृदय में वेदना की एक लहर-सी उठी। तब वे बेलुड़ मठ में थे। दोपहर में उन्हें यह अशुभ समाचार मिला कि उनके गुरुभाई अचलानन्द छुट्टी लेकर श्रीगुरु के पाद-प्रदेश में चिर विश्राम करने पहुँच गये हैं। तब स्वामी अचलानन्द की आयु ७१ वर्ष की थी।

●

धर्म का मर्म

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

'धर्म' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में बारम्बार किया गया है। जब हमें धर्म का निर्णय लेना होता है, तो हम शास्त्रों का सहारा लेते हैं। गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।१६/२४

—'कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं।'

शास्त्र की आड़ लेकर धर्म का निर्णय तो किया जाता है, पर शास्त्रवचन के तात्पर्य को लेकर मतभेद की सम्भावना बनी रहती है। मानस में अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में ही यह प्रश्न बड़े सूक्ष्म रूप में उपस्थित होता है। रघुवंश की परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकारी होना चाहिए। शास्त्र का विधान भी यही कहता है। महाराज दशरथ के मन में जब श्रीराघवेन्द्र को युवराज-पद देने की अभिलाषा जागती है, तो वे इसे मंत्रियों के समक्ष प्रकट करते हैं और उनका समर्थन प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त वे गुरु वसिष्ठजी के चरणों में उपस्थित हो अपनी इच्छा उनके सम्मुख रखते हैं। मुनि प्रफुल्लित हो कह उठते हैं—

बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुवराजु ।।२/४

—'राजन् ! अब देर न करो, शीघ्र ही सब सामान सजाओ। शुभ दिन और सुमंगल तो तभी है, जब राम युवराज हो जायँ।' फिर गुरु वसिष्ठ भगवान् राम के पास जाकर उन्हें उपदेश देते हुए कहते हैं, "राघवेन्द्र ! पिता ने कल तुम्हें शास्त्र की मर्यादा के अनुरूप युवराज-पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय किया है। आज का दिन तुम संयम-मनन पूर्वक व्यतीत करो।" गुरु वसिष्ठ उपदेश दे चले जाते हैं और श्रीराम उनके वचनों पर विचार करने लगते हैं। शास्त्र की मर्यादा कहती है कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का उत्तराधिकार मिलना चाहिए। धर्म तो यही कहेगा कि शास्त्र का वचन पालनीय है। पर भगवान् राम उसका वह अर्थ नहीं लेते, वे धर्म के मर्म पर विचार करते हैं। यदि वे शास्त्र के इस कथन को सीधा स्वीकार कर लेते कि ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी होना चाहिए, तो धर्म का प्रश्न उसी समय उपस्थित हो जाता, जब कैकेयी नें कहा कि भरत राजा होंगे। तब धर्म के संरक्षण के लिए, भगवान् राम को कैकेयी का विरोध करना पड़ता। लेकिन उन्होंने शास्त्र के केवल शब्दों को नहीं देखा, उसके तात्पर्य पर गौर किया। और यही धर्म के मर्म का विचार था।

गोस्वामीजी ने तीन प्रसंगों में धर्म के मर्म के क्रमिक विकास का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने प्रत्येक प्रसंग में एक एक विचारणीय पंक्ति लिखी। पहला प्रसंग प्रतापभानु का है। प्रतापभानु राजा सत्यकेतु का ज्येष्ठ

पुत्र है। जब राजा सत्यकेतु वृद्ध हुए, गोस्वामीजी ने लिखा——

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा।
हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥ १/१५२/८

——'राजा ने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दे दिया और आप भजन करने वन को चले गये।'

दूसरा प्रसंग है महाराज मनु का। जब मनु वृद्ध हुए, तो उनके मन में एक ग्लानि उत्पन्न हुई——

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥१/१४२

——'घर में रहते बुढ़ापा आ गया, पर विषयों से विराग नहीं हुआ। बिना भगवान् की भक्ति के यह जीवन यों ही बीत गया।' उन्होंने भी अपना राज्य देने का निर्णय लिया। गोस्वामीजी ने इस पर लिखा——

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥ १/१४२/१

——'मनुजी ने अपने पुत्र को जबरदस्ती राज्य दे दिया और स्वयं पत्नी सहित वन को चले गये।'

और तीसरा प्रसंग आता है महाराज दशरथ का। वे जब वृद्ध होते हैं, तो अपनी परम्परा के अनुकूल तथा शास्त्रोचित निर्णय लेते हैं——

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।
यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥ २/१४/३

——'सूर्यवंश की सुखकर रीति ही यही है कि बड़ा भाई स्वामी हो और छोटा भाई सेवक।'

ये तीन प्रसंग हैं। साधारण व्यक्ति के लिए इन तीनों में कोई अन्तर नहीं, पर जो सजग दृष्टि से इनके शब्दों के चयन पर ध्यान देंगे, वे देख पायँगे कि किस प्रकार गोस्वामीजी ने इन तीनों प्रसंगों के माध्यम से धर्म से धर्म के मर्म अर्थात् धर्मसार की ओर बढ़ती हुई स्थिति को और अन्त में धर्मसार के समग्र रूप को प्रकट किया है।

जो मानस के पाठक हैं, वे जानते हैं कि प्रतापभानु प्रारम्भ में एक महान् धार्मिक व्यक्ति के रूप में हमारे सम्मुख आता है, पर बाद में उसका पतन हो जाता है। यही प्रतापभानु परवर्ती जीवन में रावण के रूप में उपस्थित होता है। साधारण व्यक्ति की दृष्टि में प्रतापभानु का रावण के रूप में परिवर्तन एक आकस्मिक घटना हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों के शाप के कारण प्रतापभानु रावण बना। पर जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करनेवाले हैं, वे देखेंगे कि बात ऐसी नहीं। जब शरीर में कोई रोग प्रकट होता है, तो ऐसा लगता है मानो रोग हठात् प्रकट हो गया हो, पर रोग तो बहुत पहले ही जन्म ले चुका होता है। कुपथ्य और कुसेवन के द्वारा वह धीरे धीरे भीतर ही भीतर बढ़ता रहता है। बाद में वह बाहर प्रकट होता है। प्रतापभानु का यह जो राक्षसत्व है, वह ब्राह्मणों द्वारा क्षण भर में दिये शाप का परिणाम नहीं है, वरन् उसके द्वारा जीवन में की गयी कई त्रुटियों का परिणाम है। इसी की ओर गोस्वामीजी संकेत करते हैं। भगवान् राम के राज्य की तुलना

गोस्वामीजी ने सूर्य से की है और इस राजा का नाम भी उन्होंने प्रतापभानु दिया है। पर अन्तर यह है कि प्रताप-भानु निशाचर में परिणत हो जाता है। वह जो आज प्रकाश का विस्तारक है, कल अन्धकार के समर्थक के रूप में दिखायी पड़ता है, पर भगवान् का प्रकाश तो सर्वदा एक-जैसा है। इसका कारण क्या ?

गोस्वामीजी ने पहली पंक्ति में लिखा कि जब राजा सत्यकेतु वृद्ध हुए, तो उन्होंने विचार किया कि वृद्धावस्था में सत्ता और राज्य का परित्याग कर देना चाहिए तथा भगवत्प्राप्ति के लिए वन को जाना चाहिए। और उन्होंने पुत्र को राज्य दे दिया। गोस्वामीजी ने एक शब्द रखकर धर्म का समर्थन कर दिया। किस प्रकार ?—

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा।

—राजा ने सोचा, शास्त्र का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य प्राप्त होना चाहिए, अतः उन्होंने जेठे पुत्र को राज्य दे दिया। और प्रतापभानु ने उसे स्वीकार कर लिया। प्रतापभानु के पिता सत्यकेतु ने धर्म समझकर उसे राज्य दिया और प्रतापभानु ने यह मानकर कि ज्येष्ठ पुत्र के नाते यह मेरा शास्त्रोचित कर्तव्य और धर्म है, राज्य को स्वीकार कर लिया।

अब जब मनु का प्रसंग आता है, गोस्वामीजी एक शब्द के द्वारा एक नयी बात कह देते हैं। मनु के मन में भी सत्यकेतु राजा की ही भाँति वन में जाने का संकल्प है। दोनों के वनगमन का एक ही उद्देश्य है—भगवान्

को पाना। पर यहाँ एक शब्द बदला हुआ है और उससे गोस्वामीजी मनु के पुत्र तथा प्रतापभानु का अन्तर प्रकट कर देते हैं। वे कहते हैं--

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।

--प्रतापभानु ने जिस सरलता से राज्य को स्वीकार किया, मनु के पुत्र ने उस सहजता से स्वीकार नहीं किया। मनु को उसे बरबस, समझा-बुझाकर राज्य देना पड़ा। राज्य की स्वीकृति दोनों स्थानों पर दिखायी पड़ती है, धर्म दोनों स्थानों पर परिलक्षित होता है, पर दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रतापभानु के चरित्र की त्रुटि यह थी कि उसने धर्म के वचनों के मर्म पर विचार नहीं किया। उसने धर्म के केवल शब्दार्थ को ग्रहण किया। किन्तु मनु के पुत्र ने शब्दार्थ के साथ साथ उसके सही अर्थ को भी ग्रहण किया। यह आवश्यक नहीं कि जो एक व्यक्ति का धर्म है, वही दूसरे का भी हो। जैसे, महाराज मनु के मन में जो ग्लानि उठी कि--

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।।१/१४२

--वह उनके लिए उचित थी। वृद्धावस्था में मनुष्य को भगवान् का भजन करना ही चाहिए। पर इसी बात को अगर मनु का पुत्र अपने पिता से कहे कि 'पिताजी, आप तो अब बूढ़े हो गये, अब जाकर भगवान् का भजन कीजिए,' तो कैसा हो? तब यह धर्म न होकर अधर्म हो जायगा। पुत्र धर्म का नाम तो लेगा, पर उसकी आन्तरिक

अभिलाषा यही रहेगी कि कब ये वृद्ध महोदय वन को पधारें ताकि हमें सत्ता प्राप्त हो सके। यदि कोई व्यक्ति भगवत्भक्ति की महिमा गाकर पिता को वन में भेजना चाहे, तो वह धर्म की आड़ में अपने स्वार्थ का समर्थन मात्र ही होगा। जैसे एक व्यक्ति बड़े ही श्रद्धा-भाव से अपने पिता का श्राद्ध सम्पन्न कर रहा हो। सारे दर्शक मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा कर रहे हों कि देखो, पिता का कैसा भक्त है, कितने सुन्दर ढंग से उनका श्राद्ध सम्पन्न कर रहा है। अब ऐसे समय में वहाँ पर बैठा एक लड़का यह सोचने लगे कि कब मेरे पिताजी सिधारें तो मैं भी ऐसा ही श्राद्ध करूँ, तो कैसी बात होगी? श्राद्ध वहाँ पर श्रद्धा का विषय न होकर व्यक्तिगत अहं की तृप्ति का साधन मात्र बनकर रह जायगा। प्रतापभानु समझता था कि जब शास्त्र ज्येष्ठ पुत्र के राज्याधिकार का अनुमोदन करता है, तब ज्येष्ठ पुत्र का यही कर्तव्य है कि वह राज्य प्राप्त करे। पर शास्त्र का यह विधान समुचित राज्य-व्यवस्था के लिए है, न कि राज्य पर बलात् अधिकार जमाने के लिए। और यह बात मनु-प्रसंग में परिलक्षित होती है। मनु ने जब पुत्र को राज्य देने की चेष्टा की, तो पुत्र ने कहा—"नहीं, नहीं, अभी आप ही राज्य चलाइए। जिस सुन्दर रीति से आप राज्य का संचालन कर रहे हैं, मैं वैसा नहीं कर पाऊँगा।" इसका अभिप्राय यह है कि मनु के पुत्र के अन्तःकरण में पिता के प्रति श्रद्धा की भावना थी और इसे उसने धर्म और

शास्त्र से बढ़कर माना। वह चाहता तो शास्त्र-वचन और पिता की आज्ञा समझ अनायास ही राज्य ग्रहण कर सकता था। पर उसने शास्त्र और धर्म के केवल शाब्दिक अर्थ को ग्रहण नहीं किया, बल्कि उसके सही मर्म को अपनाया। और इस मर्म को भगवान् राम सबसे अधिक प्रकट करते हैं।

जब गुरु वसिष्ठ उनसे यह कह जाते हैं कि 'राघवेन्द्र, कल तुम्हें युवराज-पद सँभालना है, शास्त्र और पिता की यह आज्ञा है कि ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी हो,' तो भगवान् राम उनके कथन पर चिन्तन करने लगते हैं। और वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वही धर्म का मर्म है, धर्मसार है। वह शास्त्र-वचन से भिन्न तो है, पर शास्त्र और धर्म की आत्मा वही है। श्रीराम निर्णय लेते हैं कि शास्त्र का यह कथन, रघुवंश की यह परम्परा कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी हो, बड़ा अनुचित है। वे कह उठते हैं--

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥
विमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु विहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ २/९/५-७

--'हम सब भाई एक साथ जन्मे। खाना, सोना, खेलना, कनछेदन, उपनयन, विवाह सब एक साथ ही हुआ। पर राज्याभिषेक केवल बड़े का होता है, यही इस विमल वंश में एक अनुचित बात है।'

लगता है कि भगवान् राम उल्टी बात कह रहे हैं, मानो उन्हें शास्त्र-वचन में विश्वास नहीं। पर बात ऐसी नहीं है। भगवान् राम ने धर्म का जैसा मर्म समझा, वैसा प्रतापभानु ने नहीं समझा। प्रतापभानु ने ज्येष्ठ पुत्र के नाते राज्य प्राप्त करने को ही धर्म मान लिया। पर वह धर्म नहीं, धर्माभास था। वह धर्म तो तब होता, जब सब लोग उसका समर्थन करते, छोटे भाई भी कहते कि ये ही राज्य के उत्तराधिकारी बनें। इधर सभी चाहते हैं कि भगवान् राम उत्तराधिकारी हों, पर श्रीराम इसे अनुचित मानते हैं, कहते हैं कि ज्येष्ठ को ही राज्य क्यों मिले, छोटे को क्यों नहीं? बड़े भाई को राज्य का उत्तराधिकार देने में शास्त्र का तात्पर्य यह है कि यदि छोटे को राजा बना दिया जाय, तो वह सबका पूज्य होगा, फिर सभी उसे ही नमन करेंगे, और यह बात बड़े भाई को अनुचित लग सकती है; पर यदि बड़ा भाई राजा होता है, तो सामाजिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से सन्तुलन बना रहेगा। किन्तु भगवान् राम की चिन्तनधारा इससे सर्वथा अलग है। वे कहते हैं—"उचित तो यह होता कि छोटे भाई को राजा बनाया जाता।"

—"क्यों ?"

—"इसलिए कि बड़ा भाई तो अपने पद के कारण बड़ा है ही, राज्य देकर उसे और भी बड़ा बना दिया गया, जबकि छोटा भाई तो छोटा ही था, और बेचारा अब और भी छोटा बना दिया गया। अगर छोटे को राज्य

दिया जाता, तो बड़ा तो पद के कारण ही बड़ा रहता और छोटा राज्य पाकर बड़ा हो जाता। दोनों ही बड़े हो जाते। यहाँ तो छोटे और बड़े के बीच की दूरी और भी बढ़ा दी जाती है।"

—"अच्छा महाराज! अगर भरतजी को राजा बना दिया जाय, तो आपको कैसा लगेगा?"

—"यह तो मेरे लिए दुगुने गौरव की बात होगी। यदि मैं राजा होऊँगा, तो यही कहा जाऊँगा न कि मैं अयोध्या का राजा हूँ? लेकिन यदि भरत राजा हो जायँ, तो मैं गौरव के साथ कह सकूँगा कि मैं अयोध्या के राजा का बड़ा भाई हूँ। तो, अयोध्या का राजा होना अच्छा है या अयोध्या के राजा का बड़ा भाई?"

यही देखने की भंगी है। शास्त्र ने जो नियम बनाये हैं, वे अधिकार को बढ़ाने के लिए नहीं, उसे न्यून करने के लिए हैं। मनुष्य में अधिकार की असीम आकांक्षा विद्यमान है। शास्त्र का कार्य उस आकांक्षा को मर्यादित करना है। उसका मूल तात्पर्य यही है कि मनुष्य वास्तव में अधिकार का त्याग करे। और यही तात्पर्य भगवान् राम के चरित्र में प्रकट होता है। उनका यह कथन कि राज्य छोटे भाई को मिलना चाहिए, केवल शाब्दिक न था। जब कैकेयी अम्बा ने उन्हें बुलाकर कहा कि 'राघवेन्द्र! तुम्हारे पिताजी ने मुझे दो वचन दिये थे। जो मुझे अच्छा लगा, मैंने माँग लिया। अब वे बड़े धर्म-संकट में हैं। अगर तुमसे सम्भव हो सके, तो उनकी आज्ञा

पूरी करो,' तो प्रभु बड़े प्रसन्न हुए। महाराज दशरथ तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। एक ओर वे सोचते हैं कि जब मैंने कैकेयी को वचन दिया, तो मेरा कर्तव्य है कि मैं राम को वन जाने को कहूँ, और दूसरी ओर उनका विवेक कहीं से कह उठता है कि क्या मेरा यह कार्य उचित है ? उचित-अनुचित का निर्णय ठीक ठीक न कर पाने के कारण महाराज मौन हो जाते हैं। पर भगवान् राम की अन्तर्दशा क्या है ? यहीं से धर्म के स्थान पर धर्म के मर्म की, धर्मसार की सीमा आ जाती है। श्रीराम इसे धर्म का प्रश्न समझकर संघर्ष का विषय नहीं बनाते। वे चाहते, तो कह सकते थे कि शास्त्रों की मर्यादा के अनुरूप राज्य उन्हें ही मिलना चाहिए। इससे भी आगे बढ़कर वे कह सकते थे कि भले ही भरत को राज्य दे दिया जाय, पर उन्हें वन भेजने का आधार क्या है ? कैकेयीजी के लिए तो महाराज दशरथ वचनबद्ध हैं। वे यदि दण्ड देना चाहें, तो उसके पात्र महाराज दशरथ हैं। पर यह कहाँ का न्याय है कि एक निरपराध व्यक्ति को, जो कि राज्य का अधिकारी है, राज्य न दे चौदह वर्षों का वनवास दे दिया जाय ? भगवान् राम चाहते, तो न्याय-अन्याय का यह प्रश्न उठा सकते थे। पर उन्हें तो धर्मसार का, धर्म के मर्म का स्वरूप प्रकट करना था। कैकेयीजी के वचनों को सुन वे इतने प्रसन्न हुए कि कैकेयी भी कुछ क्षणों के लिए चक्करा गयीं। उन्हें लगा, कहीं ये अभिनय तो नहीं कर रहे हैं। भगवान् राम ने उनकी बात सुनते ही उनसे कहा--

—"माँ ! वन में मुनियों से विशेषरूप से मिलन होगा, जो मेरे लिए सभी तरह से कल्याणकारी है। और फिर माता ! इसमें पिताजी की आज्ञा और तुम्हारी सम्मति है। साथ ही—

भरतु प्रानप्रिय पावहि राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौ न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥
सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी।
परिहरि अमृत लेहिं बिषु मागी॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं।
देखु बिचारि मातु मन माहीं॥ २/४१/१-४

—प्राणों से प्रिय भरत राज्य पायँगे। लगता है, आज ब्रह्मा सभी प्रकार से मेरे अनुकूल हो गये हैं। अब यदि ऐसे काम के लिए मैं वन को न जाऊँ, तो मूर्खों के समाज में सबसे पहले मेरी गिनती होनी चाहिए। ऐसे महामूर्ख भी, जो कल्पवृक्ष को छोड़ रेंड़ की सेवा करते हैं और अमृत त्याग विष माँग लेते हैं, ऐसा मौका पाकर कभी न चूकेंगे।

"सचमुच में, माता ! आज ब्रह्मा जितने उदार मेरे प्रति हुए हैं, उतने किसी के प्रति नहीं हुए। ब्रह्मा की सृष्टि में प्रत्येक कार्य में हानि और लाभ दोनों निहित हैं। पर आज तो ब्रह्मा सभी दिशाओं में मेरे अनुकूल हैं।"

—"कैसे ?"

—"जब मैं सामने देखता हूँ, तो पाता हूँ—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर,

और जब तुम्हारी ओर देखता हूँ, तो—

संमत जननी तोर

—तुम्हारी सम्मति पाता हूँ। जब पिताजी की ओर दृष्टि जाती है—

तेहि महँ पितु आयसु बहुरि

—तो उनकी आज्ञा मेरे साथ है। और जब पीछे नजर जाती है, तो पाता हूँ कि—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू

—प्राणप्रिय भरत राज्य पायँगे। इसीलिए माँ! लगता है कि—

बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू

—विधाता आज सब दिशाओं में मेरे अनुकूल हैं।

"और फिर माँ! तुम्हारा एक वरदान कल्पतरु है तो दूसरा अमृत।"

—"कैसे?"

—"अयोध्या के जितने लोग हैं, वे अपनी इच्छाएँ मुझसे पूरी कराना चाहते हैं; एक तुम्हीं हो, जिसने मेरी आकांक्षा को जाना। जिस प्रकार कल्पतरु के नीचे बैठने से जो भी इच्छा हो, पूरी हो जाती है, उसी प्रकार तुमने मेरी इच्छा पूरी कर दी। जब तुम्हारे मुँह से निकला कि भरत को राज्य मिलेगा, तभी मैं जान गया कि तुम वास्तव में कल्पतरु हो। मैं तो अकेले में यही सोच रहा था कि राज्य छोटे भाई को मिलना चाहिए, पर लोकभय के कारण कुछ प्रकट नहीं कर पा रहा था। एक तुम ही थीं, जिसने मेरी

कामना को पहचाना और उसे पूरा किया। तुम तो कल्पतरु से भी महान् हो, माँ ! कल्पतरु तो उतना ही पूरा करता है, जितना उससे माँगा जाय। मैंने तो इतना ही सोचा था कि छोटे भाई को राज्य मिले। पर तुमने और भी कृपा यह कर दी कि यदि छोटे को राज्य मिले, तो बड़े को उससे भी कुछ बड़ा प्राप्त हो। इसीलिए अमृतपान कराने वन को भेज रही हो। माता ! सचमुच में तुम्हारे वरदानों ने मुझे धन्य कर दिया !"

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) क्षमा बड़न को चाहिए

सन्त रामदास चाफल से सतारा जा रहे थे। साथ में दत्तूबुवा भी थे। मार्ग में देहेगाँव आने पर दत्तूबवा बोले, "महाराज! कुछ खाने की व्यवस्था करने जा रहा हूँ।" रास्ते में उन्होंने सोचा कि लौटने में देर हो सकती है, इस कारण वे समीप के खेत से ज्वार के चार भुट्टे तोड़ लाये। जब उन्होंने भुट्टे भूँजना शुरू किया, तो धुआँ निकलता देख खेत का मालिक--पाटिल--वहाँ आ पहुँचा। भुट्टे चुराये गये देख उसे गुस्सा आया और उसने हाथ के डण्डे से रामदास स्वामी को मारना शुरू किया। दत्तूबुवा के मन में विचार आया कि वे प्रतिकार करें, किन्तु रामदासजी ने वैसा न करने का इशारा किया। थोड़ी देर बाद उन्हें गालियाँ देता हुआ पाटिल लौट गया। दत्तूबुवा को पश्चात्ताप हुआ कि उनके कारण व्यर्थ ही समर्थ को मार खानी पड़ी।

दूसरे दिन वे लोग सतारा पहुँचे। समर्थ की पीठ पर डण्डे के निशान देख लोगों में कानाफूसी होने लगी। छत्रपति शिवाजी ने इस सम्बन्ध में जब स्वामीजी से पूछा, तो उन्होंने पाटिल को बुलाने कहा। पाटिल वहाँ उपस्थित हुआ और जब उसे मालूम हुआ कि जिन्हें उसने कल पीटा था, वे तो राजा शिवाजी के साक्षात् गुरु थे, तब वह बेहद डर गया कि न मालूम अब उसे कौनसा दण्ड दिया जायगा। शिवाजी बोले, "महाराज! इसे क्या दण्ड

दूँ ?" तब पाटिल स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ा और उसने क्षमा माँगी। समर्थ बोले, "राजा! इसने कोई गलत काम नहीं किया है। हमारी मानसिक शान्ति की परीक्षा पाटिल के अलावा और कोई नहीं कर पाया, इस कारण इसे कीमती वस्त्र देकर इसका सम्मान करना चाहिए। इसका दण्ड यही है!"

(२) अन्तिम मार्गदर्शक

जबल के बेटे मुआज़ को सूबेदार बनाकर यमन भेजा जा रहा था। चलते वक्त मुहम्मद साहब ने मुआज़ से पूछा, "अपने सूबे की हुकूमत में किस बात का प्रमाण मानकर फैसले करोगे?" मुआज़ ने जवाब दिया, "कुरान के हुक्म को।"

"लेकिन अगर कुरान में तुम्हें वहाँ ठीक बैठनेवाला हुक्म न मिले, तो?" मुहम्मद साहब ने अगला प्रश्न किया।

"तब मैं पैगम्बर की मिसाल को सामने रखकर चलूँगा," मुआज़ ने उत्तर दिया।

"और अगर पैगम्बर की मिसाल में भी ठीक बैठने-वाली चीज तुम्हें न मिले, तो?"

"तब मैं अपनी अक्ल से काम लूँगा।"

इस जवाब से मुहम्मद साहब खुश हो गये और उन्होंने दूसरों से भी इसी तरह काम करने कहा।

(३) समानता

छठे सिख गुरु हरगोविन्दसिंह जी ने सर्वप्रथम सिखों का शस्त्रीकरण किया। उनका सिद्धान्त था—"बलिष्ठ शरीर में ही सबल आत्मा का विकास होता है। जो

व्यक्ति बाहरी शत्रु से नहीं लड़ सकता, वह मानसिक विकारों का किस प्रकार दमन कर सकता है ?"

सम्राट् जहांगीर ने दीवान चन्दूलाल की शिकायत पर गुरुजी को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। बाद में लाहौर के फकीर मियाँ मीर ने जब जहांगीर को चेतावनी दी कि दुष्ट दीवान के कहने पर एक सच्चे तपस्वी को बन्दी करने का परिणाम उसे राज्यच्युत होकर भुगतना पड़ेगा, तो घबराये जहांगीर ने फौरन गुरुजी को छोड़ देने का हुक्म दिया।

शाही हरकारे परवाना लेकर ग्वालियर के किले में आये। तब गुरुजी ने कैद से छूटनें से इन्कार कर दिया। वे बोले, "मैंने इस कैदखाने में तमाम बेगुनाहों को जुल्म सहते देखा है। साधु सदैव मुक्त होता है। जहाँ मुक्ति है, वहाँ बन्धन रह ही नहीं सकता। या तो सभी बेगुनाह कैदियों को छोड़ दिया जाय, या मुझे भी यहीं रखा जाय।" जहांगीर ने सभी बेगुनाह कैदियों को रिहा कर दिया। सिख-परम्परा में यह पुण्यगाथा 'बन्दी छोरा' के नाम से गायी जाती है।

(४) पसन्द अपनी अपनी

अलवर-नरेश मंगलसिंह अंग्रेजियत के पक्के अनुयायी थे। अंग्रेजी रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा तथा वहीं सभ्यता और संस्कृति उन्हें पसन्द थी। जितनी आसक्ति उनकी अंग्रेजी सभ्यता के प्रति थी, उतना ही विरोध उन्हें हिन्दू धर्म तथा संस्कृति से था।

किन्तु उनका दीवान देशभक्त था। उसे स्वामी विवेकानन्दजी पर विश्वास था कि महाराजा की विचार-धारा मोड़ने में उनका सहयोग अवश्य सफल हो सकता है। इस कारण वह महाराजा को स्वामीजी के पास ले गया। मगलसिंह ने स्वामीजी से भेंट होते ही तिरस्कारपूर्ण मुद्रा म प्रश्न किया, "आप पढ़े-लिखे होकर भी यों भिक्षा-वृत्ति के सहारे अपनी आजीविका क्यों चलाते हैं ? कहीं परिश्रम करके द्रव्यार्जन क्यों नहीं करते ?"

प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने उनसे ही प्रश्न किया, "क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप उन विदेशी शासकों की, जो हमारे देश को गुलाम बनाये हुए हैं, सभ्यता के प्रति इतने आसक्त क्यों हैं ?"

मंगलसिंह ने उत्तर दिया, "इसलिए कि मुझे उसमें आनन्द आता है।" इस पर स्वामीजी बोले, "बस वही स्थिति मेरी भी है। आनन्द ही प्रत्येक प्राणी का चरम लक्ष्य है, किन्तु उसे श्लाघनीय तभी माना जा सकता है, जब वह अखण्ड हो, शाश्वत हो, अनश्वर हो, अपरिवर्तनीय हो। मुझे भी दूसरों की सेवा करने में, उनके दुःख दूर करने में तथा अपनी संस्कृति एवं धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में आनन्द आता है और उसके लिए यह वेश तथा जीवन का यह क्रम आवश्यक है।"

स्वामीजी के साथ उनकी अनेक विषयों पर चर्चा हुई और प्रत्येक में उन्होंने अपने आपको गलत मार्ग पर पाया। अन्त में वे स्वामीजी से बोले, "मैं अब तक अन्धकार में था।

आपने आज मेरे अन्तश्चक्षु खोल दिये।" और उस दिन से वे भारतीय धर्म तथा दर्शन के पक्के अनुयायी हो गये।

(५) निर्लोभिता

पन्ना राज्य में बाबा हिम्मतदास नामक एक सन्त हो गये हैं। एक बार उनसे भेंट करने पन्ना के महाराजा धौकलसिंह गये। इस ज्ञानी-ध्यानी सन्त से प्रभावित हो महाराजा बोले, "आप संकीर्तन के लिए बरायछ से पन्ना आते हैं। मेरी इच्छा है, आप यहीं पन्ना में रहें, मैं आपको सम्पत्ति दूँगा।"

इस पर सन्त बोले—

"राजपाट चाहे नहीं, नहिं चाहे धन-धाम।
हिम्मत पुरिया प्रेम की, राम नाम से काम॥"

तब महाराजा ने अपने आभूषणों में से एक उत्तम हीरा निकालकर उन्हें भेंट किया। इस पर निर्लोभी सन्त बोले—

"हिम्मत हीरा कारने, तन में लुवा लगाय।
ज्ञान कुदारिन खोदिए, मिलत-मिलत मिल जाय॥
जग में हीरा राम है, रहे सकल घट पूर।
हरिदास के दास को, हिम्मत दास हजूर॥"

और उन्होंने वह हीरा महाराजा को साभार वापस कर दिया।

❀

गीता प्रवचन-२२

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछले प्रवचन में हमनें गीता के दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक पर चर्चा करते हुए पुनर्जन्म की बात उठायी थी और यह कहा था कि जीवन के क्रम को समझने के लिए पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त एक आवश्यक सोपान है। हमने यह भी कहा था कि जीवन का प्रवाह निरुद्देश्य नहीं है, उसका एक लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही यह सारा सृष्टि-क्रम चल रहा है। हमने पिछली चर्चा में डार्विन के विकासवाद की भी बात उठायी थी और उसकी खामियों की ओर दृष्टिपात किया था। हिन्दू कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस सृष्टि-क्रम की ऐसी तर्कयुक्त व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसमें डार्विन के विकासवाद की खामियाँ नहीं हैं। आइए, अब हम इस सिद्धान्त पर चर्चा करें और देखें कि वह किस प्रकार वैज्ञानिक मान्यताओं को काटता नहीं, न स्वयं उनके द्वारा कटता है।

हिन्दू दर्शन पूर्णता की प्राप्ति को जीवन-क्रम का लक्ष्य मानता है। स्वामी विवेकानन्द इस सम्बन्ध में कहते हैं— Each soul is potentially divine. The goal is to manifest this divine within, by controlling nature, external and internal—'प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके इस अन्तःस्थ ब्रह्मभाव

को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।' प्रत्येक जीव इस पूर्णता का अधिकारी है। उसके भीतर अनन्त शक्ति, अनन्त सामर्थ्य छिपी हुई है। इस निहित सामर्थ्य को प्रकट करना पूर्णता कहलाता है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड मानो अनगिनत नियमों का पुंज है। 'ब्रह्म' की व्याख्या भी हम इसी प्रकार कर सकते हैं। 'बृंह्' धातु से व्युत्पन्न इस 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य है फैलाव——ऐसा फैलाव, जिससे बढ़कर और किसी फैलाव की कल्पना न की जा सके। जो कुछ भी कल्पना और अनुभव के अन्तर्गत आ सकता है, वह देश और काल की सीमा के भीतर ही रहेगा। यह ब्रह्म देश-काल को व्याप्त करके उसके ऊपर भी स्थित है। यह ब्रह्म ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है और इसे जान लेना ही जीवन का लक्ष्य है। इसी को पूर्णता-प्राप्ति की अवस्था भी कहते हैं। 'जानने' का तात्पर्य अनुभूति से है——मात्र शब्दज्ञान से नहीं। तो, यह ब्रह्म, यह विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त नियमों का पुंज है। जब यह नियमपुंज अपने को भौतिक धरातल पर प्रतिफलित करता है, तो वह भौतिक नियमों के नाम से पुकारा जाता है; और जब वह अपने को मन के धरातल पर प्रक्षिप्त करता है, तो आध्यात्मिक नियमों के नाम से जाना जाता है। भौतिक नियमों अर्थात् बाह्य प्रकृति को जानने का साधन है विज्ञान, और आध्यात्मिक नियमों अर्थात् अन्तःप्रकृति को जानने का साधन है अध्यात्म। इस प्रकार विज्ञान और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि परिपूरक हैं।

यह अनुभवगम्य बात है कि जब हम किसी नियम को जान लेते हैं, तो उतनी मात्रा में हम बली हो जाते हैं, हम उस नियम पर आधिपत्य कर लेते हैं। जब हम नियम को नहीं जानते, तो नियम हमें चलाता है। नियम को जान लें, तो हम नियम को चलाने लगते हैं। किसी मशीन का नियम यदि हमारे लिए ज्ञात है, तो हम मशीन को चलाते हैं। यदि मशीन का नियम हमें नहीं मालूम, तो मशीन हमें चलाती है, हम मशीन की दया पर रहते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम जब तक ज्ञात नहीं था, वह मानव पर हावी था। जब मानव ने उसे जान लिया, तो उसने उसे जीत लिया, वह गुरुत्वाकर्षण पर हावी हो गया, वह आकाश में उड़ने लगा। आज का मानव अन्तरिक्ष और चन्द्रमा के नियमों को जान लेने के कारण वहाँ की सैर करके आ रहा है। तात्पर्य यह कि नियम का ज्ञान हमें शक्तिमान बना देता है। तो, जैसे बाहर के धरातल पर, वैसे ही भीतर के धरातल पर भी। मनुष्य जितनी मात्रा में भीतर के नियमों को जानने में समर्थ होता है, उतनी मात्रा में वह मन पर हावी हो जाता है। आज बाह्य जगत् में विज्ञान की गति को देखकर ऐसा नहीं लगता कि मनुष्य दुर्बल है, छोटा है; बल्कि यह अनुभव होता है कि मनुष्य की शक्ति की कोई सीमा नहीं, उसमें जाने कितनी अपार सम्भावनाएँ निहित हैं। जब यह बात केवल बाह्य जगत् में मनुष्य की उपलब्धि को देखकर स्पष्ट है, तो अन्तर्जगत् के नियमों को जान लेने पर मानव कितनी प्रचण्ड शक्ति का स्वामी न

बनता होगा, इसकी कुछ कल्पना अवश्य की जा सकती है।

तो, हम कह रहे थे कि मनुष्य में असीम शक्ति निहित है, उसमें समूचा ब्रह्म समाया हुआ है, पर आज उसका यह ब्रह्मत्व अप्रकट है। इस पूर्णता को प्रकट करना ही जीवन का लक्ष्य है। जब तक यह पूर्णता पूरी तरह से प्रकट नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य बारम्बार जन्म ग्रहण करता है, और एक दिन जब वह अपने भीतर के पशुत्व का सम्पूर्णतः दमन कर मन का स्वामी बन जाता है, तो महापुरुषों के समान पूर्ण बन जाता है। बस, यहीं विकास-क्रम की पूर्णता साधित होती है और जीवन-प्रवाह, जो 'अमीबा' से—जीवाणु-कोश से निकलकर लक्ष-लक्ष योनियों में से होता हुआ बह रहा था, वृत्त को पूरा कर लेता है और अपने लक्ष्य—पूर्णता के सागर—में मिलकर विलीन हो जाता है। इसी को 'मुक्ति' या 'मोक्ष' की अवस्था कहते हैं।

हिन्दू दर्शन, विकासवादियों के समान, यह स्वीकार करता है कि 'अमीबा' से विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। पर, जैसा कि हमने पिछले प्रवचन में देखा, विकासवादी यह नहीं समझा पाते कि विकास-क्रम की पूर्णता किसमें है। वे यह भी नहीं बता पाते कि पूर्णता-प्राप्त मानव विकास-क्रम में से कैसे पैदा होता है। वे 'चेतना' की उत्पत्ति का भी कोई तार्किक कारण नहीं दे पाते। हिन्दू दर्शन इन सब प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहता है कि यह जो मनुष्य की पूर्णता है, यह जो 'चेतना' विकास के क्रम में अचानक कहीं पर प्रकट हो जाती है, वह सब को

सब उस 'अमीबा' में क्रमसंकुचित है। मनुष्य के माध्यम से प्रकट होनेवाला यह ब्रह्मत्व, यह दिव्यत्व उसी 'अमीबा' के भीतर विद्यमान है। विकास-क्रम का अर्थ है 'अमीबा' के भीतर निहित पूर्णता का अपने आपको प्रकट करने का प्रयास। इसी प्रयास में जीवन-प्रवाह एक योनि से दूसरी योनि में संचरित होता है। जब वहाँ भी पूर्णता पूरी तरह प्रकट नहीं हो पाती, तो उससे भी उच्चतर योनि में वह प्रयाण करता है। इस प्रकार लाखों योनियों में से होता हुआ अन्त में यह जीवन-प्रवाह मनुष्य-योनि में प्रवेश करता है। वहाँ भी जब यह पूर्णता पूरी तरह अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर पाती, तो उस मनुष्य-जीवन के नष्ट होने पर यह जीवन-प्रवाह दूसरा मनुष्य-जीवन धारण करता है। इस प्रकार यह पूर्णता अनेक मनुष्य-जन्मों के माध्यम से अपने को अधिकाधिक अभिव्यक्त करती रहती है। और एक दिन यह जीवन-प्रवाह ऐसी मनुष्य-योनि प्राप्त करता है, जहाँ अभिव्यक्ति के सारे बाधक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और जो पूर्णता उस 'अमीबा' के भीतर कैद थी, वह पूरी तरह इस मनुष्य-जन्म में अभिव्यक्त हो जाती है। लाखों-करोड़ों वर्षों से बहता चला आ रहा जीवन-प्रवाह अपने गन्तव्य को प्राप्त कर सार्थक हो जाता है। यही मुक्ति या मोक्ष की अवस्था है।

हिन्दू दर्शन विकास का यह जो कारण बताता है, वह विकासवादी के कारणों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू की दृष्टि में विकास का

कारण है--'अमीबा' में निहित पूर्णता का अपने आपको प्रकट करने का प्रयास। महर्षि पतंजलि अपने 'योगसूत्र' (४/२) में कहते हैं--'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' --'एक योनि से दूसरी योनि में बदल जाना रूप (यह) जात्यन्तर-परिणाम प्रकृति की आपूरण-क्रिया से होता है।' प्रकृति की आपूरण-क्रिया का अर्थ है प्रकृति का स्वभाव। जैसे, मेड़ के कारण पानी बँधा हुआ है। पानी को बहाने के लिए हमें और कुछ नहीं करना पड़ता, केवल उसमें बाधक मेड़ को तोड़ भर देना पड़ता है और पानी अपने स्वभाव से बह जाता है। इसी प्रकार विकास-क्रम में बहने का स्वभाव है, उस पूर्णता में अपने आपको अभिव्यक्त करने का स्वभाव है। इसके लिए केवल उसकी अभिव्यक्ति के रोड़ों को दूर भर कर देना होता है। इसी को समझाते हुए पतंजलि अगले सूत्र (४/३) में कहते हैं--'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' --'सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधाओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं—जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालनेवाली मेड़ को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बह जाता है।'

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं--"जब कोई किसान खेत में पानी सींचने की इच्छा करता है, तब उसे अन्य किसी जगह से पानी लाने की आवश्यकता नहीं होती; खेत के समीपवर्ती जलाशय

में पानी संचित है, बीच में बाँध रहने के कारण पानी खेत में नहीं आ पा रहा है। किसान उस बाँध को खोल भर देता है, और बस, पानी गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार, अपने आप खेत में वह आता है। इसी प्रकार, सभी व्यक्तियों में सब प्रकार की उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित है। पूर्णता ही मनुष्य का स्वभाव है, केवल उसके किवाड़ बन्द हैं, वह अपना यथार्थ रास्ता नहीं पा रही है। यदि कोई इस बाधा को दूर कर सके, तो उसकी वह स्वाभाविक पूर्णता अपनी शक्ति के बल से अभिव्यक्त होगी ही। और तब मनुष्य अपने भीतर पहले से ही विद्यमान शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। जब यह बाधा दूर हो जाती है और प्रकृति को अपनी अप्रतिहत गति प्राप्त हो जाती है, तब हम जिन्हें पापी कहते हैं, वे भी साधु के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रकृति ही हमें पूर्णता की ओर ले जा रही है, कालान्तर में वह सभी को वहाँ ले जायगी। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनाएँ और प्रयत्न हैं, वे सब केवल निषेधात्मक कार्य हैं---वे केवल बाधा को दूर कर देते हैं, और इस प्रकार उस पूर्णता के किवाड़ खोल देते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, जो हमारा स्वभाव है।

"प्राचीन योगियों का विकासवाद आज आधुनिक विज्ञान के शोध से अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियों की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कहीं श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास के दो कारण हैं---यौन-निर्वाचन (sexual selection) और बलिष्ठ-

अतिजीविता (survival of the fittest)। पर ये दो कारण पर्याप्त नहीं मालूम होते। मान लो, मानव-ज्ञान इतना उन्नत हो गया कि शरीर-धारण तथा पति या पत्नी की प्राप्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गयी। तव तो आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार मानवीय उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जायगा और जाति की मृत्यु हो जायगी। फिर, इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो दार्शनिक नामधारी बनकर जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य हैं (मानो ये ही उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के एकमात्र विचारक हैं), उन सबको मार डालकर मनुष्य-जाति की रक्षा करना चाहते हैं! किन्तु प्राचीन विकासवादी महापुरुष पतंजलि कहते हैं कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है—प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते हैं कि इस पूर्णता की अभिव्यक्ति में बाधा हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णतारूप अनन्त ज्वार अपने को प्रकाशित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे अज्ञान के फल हैं। ये इसलिए होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाय और पानी भीतर कैसे लाया जाय। हमारे पीछे जो अनन्त ज्वार है, वह अपने को प्रकाशित करेगा ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन-धारण या इन्द्रिय-सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस

अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक हैं, बाह्य व्यापार मात्र हैं। ये सब अज्ञान से पैदा हुए हैं। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हममें से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्णस्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कराता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिए आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है; ज्यों ही किवाड़ खोल दिया जाता है, अर्थात् ज्यों ही बाधा हट जाती है, त्यों ही वह मनुष्य प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार, मनुष्य के भीतर भी देवता अव्यक्त भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है।"†

भले ही डार्विन के विकासवाद ने यह स्वीकार नहीं किया कि विकास-क्रम का कोई लक्ष्य है, पर आज का जीवशास्त्री न केवल इस जीवन-प्रवाह का एक लक्ष्य मानने को बाध्य हो रहा है, अपितु उसका लक्ष्य सम्बन्धी दृष्टि-कोण पूर्णता की हिन्दू-धारणा के अत्यन्त समीप आ गया है। वह डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्रतिद्वन्द्विता और होड़ को विकास के कारण में गौण मानता है और fulfilment (पूर्णता) की प्रेरणा को प्रमुख स्थान दे रहा है। आज के सर्वश्रेष्ठ जीवशास्त्री जूलियन हक्सले 'Evolution after

† विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २०५-७।

Darwin' (डार्विन के पश्चात् विकासवाद) नामक ग्रन्थ के पहले खण्ड (पृष्ठ २१) में प्रकाशित अपने 'The Emergence of Darwinism' नामक लेख में कहते हैं—"In the light of our present knowledge, man's most comprehensive aim is seen not as mere survival, not as numerical increase, not as increased complexity of organization or increased control over his environment, but as greater fulfilment—the fuller realization of more possibilities by the human species collectively and more of its component members individually"—'आज के ज्ञान के आलोक में, मनुष्य का सबसे व्यापक लक्ष्य न तो केवल जीवित बचे रहने में, न संख्या की वृद्धि में, न समुदाय की बढ़ी हुई जटिलता में और न अपने वातावरण पर अधिक नियमन प्राप्त करने की क्षमता में दृष्टिगत होता है, बल्कि वह तो अधिकाधिक पूर्णता के रूप में परिलक्षित होता है, जिससे कि मानवजाति समष्टिगत रूप से, और उससे भी अधिक, उसके विभिन्न घटक व्यक्तिगत रूप से अपनी अधिकतर सम्भावनाओं का अच्छी तरह अनुभव कर लें।'

डार्विन का विकासवाद विकास की प्रक्रिया को पूरी तरह यांत्रिक (mechanical) और जैविक (biological) मानता है, जबकि हिन्दू दर्शन इसे मन के विकास और आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है। अतएव स्वाभाविक ही हमें यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि आज का जीवशास्त्री अपनी गवेषणा के फलस्वरूप वही बात

कह रहा है, जो भारत के ऋषियों को सहस्रों वर्ष पूर्व ज्ञात हो चुकी थी। जूलियन हक्सले उपर्युक्त ग्रन्थ के तीसरे खण्ड (पृष्ठ २५१) में प्रकाशित अपने 'The Evolutionary Vision' नामक लेख में कहते हैं––"Man's evolution is not biological but psychosocial,"—'मनुष्य का क्रमविकास जैविक नहीं, बल्कि मनोसामाजिक है।'

तो, हमने ऊपर कहा कि हिन्दू दर्शन के मतानुसार, जीवन-प्रवाह में मनुष्य के माध्यम से अभिव्यक्त होनेवाली पूर्णता उस 'अमीबा' में––जीवाणु-कोश में संकुचित है। चेतना (consciousness) भी उसी 'अमीबा' में क्रमसंकुचित है। यह निहित पूर्णता अपने आपको अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है और इस प्रयास में जीवन-प्रवाह निम्न से उच्चतर योनियों में से होता हुआ गुजरता है। इसी को विकास-क्रम या विकास की प्रक्रिया कहते हैं। विकास के एक स्तर पर आकर यह चेतना भी अभिव्यक्त हो जाती है। उस 'अमीबा' के लिए इस विकास-क्रम का अन्त तब होता है, जब मनुष्य-योनि के माध्यम से उसमें निहित पूर्णता पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाती है। मानो तब यह विकास-क्रम अपना वृत्तपथ पूरा कर लेता है, जो 'अमीबा' से शुरू हुआ था। तात्पर्य यह कि यह विकास-क्रम एक वृत्त में हुआ, जिसका प्रारम्भिक बिन्दु है 'अमीबा' और अन्तिम बिन्दु है 'पूर्ण मानव'। यह 'पूर्ण मानव' ही विकास-क्रम का लक्ष्य है।

अब यहाँ कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। पहला तो यह कि

यदि विकास-क्रम की गति को वर्तुलाकार माना जाय, तो एक दोष यह आता है कि जहाँ से जीवन-प्रवाह शुरू हुआ था, वहीं फिर से घूम-फिरकर आ गया। अतएव करोड़ों वर्ष तक बहने का कोई मतलब नहीं हुआ। इसका उत्तर यों दिया जाता है कि भले ही 'वर्तुलाकार गति' से सामान्य तौर पर यह भाव उठता हो कि वृत्त जहाँ से शुरू होता है, वहीं आकर समाप्त हो जाता है, पर गणित की भाषा मे वृत्त के प्रारम्भिक और अन्तिम बिन्दु एक नहीं, दो हैं। इन दोनों को identical points (अभिन्न बिन्दु) न कहकर contiguous points (संस्पर्शी बिन्दु) कहा जाता है। और इन दोनों बिन्दुओं में वैसा ही अन्तर है, जैसा प्रकाश के अभाव में होनेवाले अन्धकार एवं चौंधियाती रोशनी से उत्पन्न देखने की अक्षमता में। आँखें न तो अन्धकार में देख पाती हैं, न चौंधियाती रोशनी में। 'अमीबा' मानो वह अन्धकार है, जो अज्ञान की निपटता से जन्म लेता है। 'पूर्ण मानव' वह बिन्दु है, जो ज्ञान की उत्कटता से प्रकट होता है। 'अमीबा' यदि असत्, तमस् या मृत्यु का बिन्दु है, तो 'पूर्ण मानव' सत्, ज्योति अथवा अमृत का विन्दु है। तभी तो ऋषि प्रार्थना करते हुए कहते हैं—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', मृत्योर्मा अमृतं गमय'—'असत् से मुझे सत् की ओर ले चलो', 'अन्धकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चलो', 'मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले चलो'।

हमने कहा कि यह 'पूर्ण मानव' ही जीवन-प्रवाह का

लक्ष्य है। इस बिन्दु पर आकर मानव के सारे मानसिक तनाव खत्म हो जाते हैं और वह अक्षय शान्ति का अधिकारी हो जाता है। मनुष्य शान्ति और आनन्द की ही तो खोज में सतत भटक रहा है। श्रीमद्भागवत में एक सुन्दर श्लोक आता है––

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।। ३/७/१७

––'केवल दो प्रकार के लोग ही तनावों से मुक्त और सुखी हैं, एक तो वह जो मूढ़तम है और दूसरा वह जो बुद्धि के उस पार चला गया है। शेष सब तनाव और दुःख का भोग करते हैं।'

वास्तव में, स्थायी सुख तो मन की सीमा को लाँघने पर ही प्राप्त होता है। संसार के घेरे का सुख मात्र संवेदनात्मक होता है, जो प्रारम्भ होकर नष्ट हो जाता है। हम सब अलग अलग परिमाण में तनावों के शिकार हैं। इनसे मुक्ति पाने के लिए हमें 'पूर्ण मानव' रूपी बिन्दु की ओर अग्रसर होना होगा। एक बार एक श्रोता ने मुझसे पूछा कि जब मूढ़ भी तनावों से मुक्त और सुखी है, तो हम मूढ़ता की ओर जाने का ही प्रयास क्यों न करें ? बुद्धि से परे जाना तो अत्यन्त कठिन है। इसलिए क्या यह वांछनीय न होगा कि हम पीछे चले जायँ और मूढ़ बनकर सुख-शान्ति का उपभोग करें ? ऐसा ही एक प्रश्न एक बार एक सदस्य ने आदिमजाति कल्याण समिति की बैठक में किया था। उन्होंने कहा कि हम ज्यों ज्यों

आदिवासियों को शिक्षित बना रहे हैं, उनके भीतर नयी नयी कुण्ठाएँ और तनाव पैदा हो रहे हैं, जो पहले उनमें नहीं थे। अतएव क्या यह उचित न होगा कि हम आदिवासियों को वैसा ही रहने दें? प्रश्न लगता तो ठीक है, पर हम एक बात भूल जाते हैं। वह यह कि विकास-क्रम में पीछे की ओर जाना सम्भव नहीं है। विकास का प्रवाह सबको आगे ही आगे ठेलता रहता है। यदि आदिवासियों के लिए हम शिक्षा की व्यवस्था न भी करें, तो भी आदान-प्रदान के माध्यम से वे संस्कार ग्रहण करेंगे और उनके भीतर तज्जन्य कुण्ठाओं और तनावों का निर्माण होगा। हम इसे रोक नहीं सकते। यह तो वैसा ही तर्क हो गया कि शिशु बड़ा अबोध, निश्छल, पवित्र और प्यारा होता है, पर बड़ा होने पर कुटिल और नाना प्रकार के अवांछनीय संस्कारों से युक्त हो जाता है, अतएव उसे बड़ा होने ही न दो! यह क्या कभी सम्भव है? उचित तो यह है कि हम शिशु के शीघ्र विकास का प्रयास करें और साथ ही यह भी देखें कि विकास से उत्पन्न होनेवाली ग्रन्थियों और कुण्ठाओं का वह शिकार न हो पाये। यही बात आदिवासियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि मूढ़ बनना सम्भव नहीं, हमें शान्ति और सुख पाने के लिए 'पूर्ण मानव' ही बनना होगा।

यहाँ पर दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि जब विकास-क्रम सबको आगे ही आगे की ओर ठेल रहा है, तो 'पूर्ण मानव' के बिन्दु तक वह हमें ठेलता ही रहेगा,

अर्थात् उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व उसका ठेलना बन्द नहीं होगा। ऐसी स्थिति में साधना का क्या तात्पर्य है? हम साधना क्यों करें? जब यह विकास-प्रवाह अपनी स्वाभाविक गति से हमें लक्ष्य तक पहुँचाये विना रुकेगा नहीं, तो साधना किस बात के लिए की जाय? इस प्रश्न का ऐसा भी रूप हो सकता है कि क्या सब कुछ विकास-प्रवाह के द्वारा बँधा नहीं है? क्या हम विकास की प्रक्रिया के हाथों कठपुतली नहीं हैं? क्या हमें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है, जिससे कि हम साधना कर सकें?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य-योनि में प्रविष्ट होने के पूर्व तक विकास-क्रम यांत्रिक और जैविक है, पर मनुष्य-योनि में आते ही वह प्रमुखतः मानसिक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि डार्विन ने विकास-क्रम को जो यांत्रिक और जैविक माना था, वह मनुष्येतर योनियों पर तो लागू होता है, पर मनुष्य-योनि में उसका स्वरूप बदल जाता है। यहाँ आकर विकास-क्रम मनुष्य को एक ऐसा घेरा प्रदान करता है, जिसके भीतर मनुष्य स्वतन्त्र है और जिसका सही सही उपयोग करने पर वह विकास को समुचित दिशा प्रदान कर सकता है तथा अपने भीतर उसकी गति को तेज भी कर सकता है। साधना का यही तात्पर्य है। उदाहरणार्थ, हम प्रवाह में बहनेवाले एक तिनके को ले लें। यह तिनका एक न एक दिन सागर में जाकर मिलेगा ही, यह सत्य है। पर

यदि उसे अपने भरोसे छोड़ दिया जाय, तो पता नहीं कितना समय उसे समुद्र तक पहुँचने में लग जाय। कहीं जाकर अटक गया, तो वहीं कई दिनों तक पड़ा रह गया। फिर हवा के झोंके से वहाँ से निकला, तो और कहीं जाकर अटक गया। इस प्रकार अटकते और बहते उसे समुद्र तक जाने में न जाने कितने दिन लग जायँ ? अब कल्पना करें कि कोई उस तिनके के अटकाव को लगातार दूर करता जाता है, तो ऐसी दशा में वह तिनका अपेक्षाकृत अत्यल्प समय में सागर में जा मिलेगा। बस, साधना अटकाव को दूर करने की प्रक्रिया है। सामान्य रूप से विकास का प्रवाह अपनी स्वाभाविक गति से हमें 'पूर्ण मानव' के बिन्दु तक ले जायगा सही, पर न जाने रास्ते में कितने अटकाव हैं, और हम अटकते-भटकते न जाने कब वहाँ तक पहुँचेंगे ? साधना हमारी इन बाधाओं को दूर करती है और विकास को दिशा एवं गति प्रदान करती है। आज का जीवविज्ञान प्रकारान्तर से इस बात की पुष्टि करता है। जूलियन हक्सले अपने उपर्युक्त लेख (पृष्ठ २५२) में मनुष्य के सम्बन्ध में कहते हैं--

"It is only through possessing a mind that he has become the dominant portion of this planet and the agent responsible for its future evolution; and it will be only by the right use of that mind that he will be able to exercise that responsibility rightly. He could all too readily be a failure in the job; he will succeed only if he faces it consciously and if he uses all his mental resources—of knowledge and reason, of

imagination, sensitivity, and moral effort."—'मनुष्य मन से युक्त है और इसीलिए वह इस ग्रह का प्रभावी अंग हो गया है तथा उसके भावी विकास-क्रम के लिए उत्तरदायी यंत्र बन गया है; वह अपने उस मन के सम्यक् उपयोग के द्वारा ही अपनें उस उत्तरदायित्व को सही ढंग से निभाने में समर्थ होगा। वह इस कार्य में एकदम असफल भी सिद्ध हो सकता है; वह सफल तभी होगा, जब वह सजग होकर उसका सामना करेगा और अपनें ज्ञान और विवेक, कल्पनाशक्ति और संवेदनशीलता तथा नैतिक प्रयास रूप समस्त मानसिक स्रोतों का उपयोग करेगा।'

मन का सम्यक् उपयोग ही साधना है। अपने ज्ञान और विवेक, कल्पनाशक्ति और संवेदनशीलता तथा नैतिक प्रयास रूप मानसिक स्रोतों का उपयोग ही साधना है। जूलियन हक्सले अनजान में ही साधना की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर देते हैं। इससे सुन्दर और सटीक साधना की परिभाषा और क्या हो सकती है? इसका तात्पर्य मानो यह हुआ कि सामान्य गति से चलने पर विकास-प्रवाह जितनी दूरी २०० वर्षों में तय करता, साधना के द्वारा, मन के सम्यक् उपयोग से वह उतनी दूरी २० वर्षों में ही तय कर ले सकता है।

इस पर कोई कह सकता है कि लक्ष्य पर पहुँचनें की जल्दी क्यों की जाय? क्यों न प्रवाहपतित तिनके की भाँति रहा जाय? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य के स्वभाव में ही यह शीघ्रता की प्रवृत्ति रूढ़ है। उसको

यह प्रवृत्ति उसकी क्रियाओं में झलकती है। वह अपने प्राणों को खतरे में डालकर सड़क को पार करेगा; रेल-गाड़ी या बस या ट्राम में वह सबसे पहले चढ़ने और उतरनें की कोशिश करेगा। सबसे आगे जाने का भाव उसकी हर क्रिया में परिलक्षित होता है। यह तक लक्ष्य की ओर उसकी गति पर भी लागू होता है।

अन्त में एक प्रश्न और किया जा सकता है। अच्छा, इस विश्व में तो कोटि-कोटि जीव दिखायी देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'अमीबा' भी कोटि-कोटि होंगे और रहे होंगे। तो यह बताओ कि ये कोटि-कोटि 'अमीबा' कहाँ से और कैसे पैदा हुए और यह ब्रह्म, यह पूर्णता उन 'अमीबों' में कब, कैसे और क्यों समा गयी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हिन्दू दर्शन कहता है—"मुझे नहीं मालूम।"

इस प्रकार हमने विकास की हिन्दू प्रक्रिया पर विचार किया और यह देखने का प्रयास किया कि वह किस तरह सम्पूर्णतः वैज्ञानिक है। अब पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर हम अगले प्रवचन में चर्चा करेंगे।

❁

स्वामी विज्ञानानन्द के संस्मरण

स्वामी प्रभवानन्द

(स्वामी प्रभवानन्द वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलिफोर्निया, हालीवुड के अध्यक्ष हैं। श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्य तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के चौथे अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी विज्ञानानन्दजी, जिनकी जन्मतिथि २८ नवम्बर को पड़ रही है, सम्बन्धी उनका यह संस्मरण अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के जुलाई १९७० अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।——सं०)

तब मैं अपने गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी* से ब्रह्मचर्य की दीक्षा पा चुका था। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "मैं चाहता हूँ कि तुम कुछ समय के लिए इलाहाबाद आश्रम में जाकर स्वामी विज्ञानानन्द के साथ रहो। कुछ समय तक एक बड़े वृक्ष की छाया में रहना उत्तम है।" फिर उन्होंने मुझे बतलाया कि स्वामी विज्ञानानन्दजी एक गुप्त ब्रह्मज्ञानी हैं। साथ ही यह भी कहा, "स्वामी रामकृष्णानन्द† के बाद विज्ञान ही श्रीरामकृष्णदेव का सबसे बड़ा भक्त है।" इस बात को समझाने के लिए महाराज‡ ने एक घटना सुनायी, जो उनके इलाहाबाद-आश्रम के प्रवास-काल में घटी थी:——

"एक दिन एक युवा कालेज-विद्यार्थी मेरे पास आया और आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी निर्देश माँगने लगा।

---

*श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के प्रथम अध्यक्ष।

†श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य।

‡स्वामी ब्रह्मानन्द।

मैंने उससे कहा, 'मैं यहाँ एक अतिथि हूँ। तुम इस आश्रम के प्रमुख स्वामी विज्ञानानन्द के पास जाओ।' पर विज्ञान ने लड़के को वापस मेरे पास भेज दिया। मैंने उसे फिर विज्ञान के निकट यह कहते हुए भेजा कि इस आश्रम में एकमात्र वे ही आध्यात्मिक निर्देश देने के अधिकारी हैं। वह बेचारा लड़का एकबार फिर मेरे पास वापस भेज दिया गया। जब मैंने तीसरी बार उसे विज्ञान के पास भेजा, तो विज्ञान ने कहा, 'ठीक है, महाराज की इच्छा है कि मैं तुम्हें उपदेश दूँ, अतः मैं ऐसा ही करूँगा। एक मिनट ठहरो!' उसने एक सन्दूक खोलकर मेरा एक फोटोग्राफ निकाला और उसे लड़के को देते हुए कहा, 'इस चित्र के सामने प्रतिदिन प्रार्थना करो और राह दिखाने की याचना करो। ऐसा करने से तुम अपने लक्ष्य तक पहुँच जाओगे। इससे ऊँचा उपदेश देना मैं नहीं जानता।' "

इस घटना का वर्णन करने के उपरान्त महाराज ने अपना मत व्यक्त किया, "देखते हो न, विज्ञान श्रीरामकृष्णदेव का कितना भक्त है?" महाराज में 'मैं' का अथवा श्रीरामकृष्णदेव से पृथक अस्तित्व का बोध ही नहीं था। स्वयं अपनी एवं अपने गुरुभाइयों की दृष्टि में भी वे श्रीरामकृष्णदेव से पूर्णतया अभिन्न हो चुके थे। अतः उनके प्रति किया गया प्रेम श्रीरामकृष्णदेव के प्रति किये गये प्रेम के ही समान था।

बाद में महाराज ने अपना विचार बदल दिया और इलाहाबाद के बदले मुझे हिमालय में स्थित अद्वैत आश्रम

में भेज दिया। आगे कुछ कहने से पूर्व मैं यह बता देना चाहूँगा कि महाराज के शब्द और उनकी इच्छाएँ सर्वदा पूरी होती थीं। वर्षों बाद मुझे स्वामी विज्ञानानन्दजी के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला, भले ही वह वहुत थोड़े समय के लिए ही था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में तेरह वर्ष बिताकर भारत की यात्रा के समय मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ था। तब श्रीमती वाइकाफ भी मेरे साथ भारत आयी हुई थीं। वे उन तीन मीड वहनों में से एक थीं, जिनके दक्षिणी पैसाडेना स्थित घर में स्वामी विवेकानन्द छः सप्ताह निवास कर चुके थे। वह मकान अब दक्षिणी कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति के आधीन है। (श्रीमती वाइकाफ को हम सिस्टर या सिस्टर ललिता कहकर सम्बोधित किया करते थे।)

स्वामी विज्ञानानन्दजी तब रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे और बेलुड़ मठ में ठहरे हुए थे। मेरी माँ तब जीवित थीं और मैं उनके दर्शन करना चाहता था। साथ ही श्रीमाँ सारदादेवी और श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत जन्मस्थान जयरामवाटी और कामारपुकुर के भी दर्शन करना चाहता था। ये दोनों स्थान विष्णुपुर कस्बे के निकट ही थे, जहाँ मेरी माँ रहा करती थीं।

इस यात्रा के लिए अनुमति लेने मैं स्वामी विज्ञानानन्दजी के पास गया। मुझे देखते ही वे बोले, "यह मूर्ति कहाँ से आ रही है?" (उस समय मैंने गेरुआ कपड़े धारण कर रखे थे, पर मेरे बाल कुछ लम्बे और माँग

निकाले हुए थे। सामान्यत: भारत में संन्यासीगण बालों में माँग नहीं निकालते।) स्वामी ओंकारानन्द वहीं उपस्थित थे। उन्होंने महाराज के एक शिष्य के रूप में मेरा उनसे परिचय कराया और उन्हें बताया कि मैं अभी अभी अमेरिका से लौटा हूँ, जहाँ ठाकुर† का काम कर रहा हूँ। मैंने स्वामी विज्ञानानन्द को साष्टांग प्रणाम किया और उनसे अपनी माँ के दर्शन करने जाने के साथ ही जयरामबाटी और कामारपुकुर की यात्रा करने की भी अनुमति माँगी। "मैंने भी इन दोनों में से किसी का भी दर्शन नहीं किया है," उन्होंने कहा, "क्या तुम मुझे अपने साथ ले चलोगे?"

"अवश्य ही, महाराज," मैं बोला। "यह तो मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी।"

पर लगभग एक घण्टा पश्चात् उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर निराशाजनक स्वर में कहा, "अवनी, मुझे दु:ख है, मैं तुम्हारा साथ नहीं दे पाऊँगा। भरत (स्वामी अभयानन्द) कहता है कि इन तारीखों में दूर के कुछ भक्त दीक्षा लेने आ रहे हैं।"

मेरे अनुरोध पर यह निर्णय लिया गया कि दीक्षा के लिए नयी तारीखें निश्चित कर ली जायँ और भक्तों को तार द्वारा सूचित कर दिया जाय।

स्वामी विज्ञानानन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रशंसा करते हुए बोले, "कितना बुद्धिमान है! इतनी आसानी से समस्या हल कर दी।"

---

†भक्तों में श्रीरामकृष्णदेव इसी नाम से परिचित हैं।

इस प्रकार मैं स्वामी विज्ञानानन्दजी और सिस्टर ललिता के साथ विष्णुपुर के लिए रवाना हुआ। साथ में उनके सेवक स्वामी अपूर्वानन्द भी थे।

प्रस्थान करने के पूर्व मैंने अपने छोटे भाई को इस आशय का तार भेज दिया था कि वह स्वामी विज्ञानानन्दजी के उचित स्वागत का आयोजन करे। वह तब विष्णुपुर के हाईस्कूल का प्रधानाध्यापक था। तीन सौ विद्यार्थी अपने शिक्षकों के साथ रेलवे-स्टेशन पर हमारा स्वागत करने के लिए उपस्थित थे। प्लैटफार्म के दूसरी तरफ लड़कियाँ खड़ी थीं और उस रास्ते पर पुष्प वर्षा कर रही थीं, जिस पर से होकर हमें गुजरना था। विष्णुपुर की सड़कें धूलभरी थीं। पर जिन सड़कों से होकर हमें जाना था, नगरपालिका ने उनपर जल छिड़कने की व्यवस्था की थी। दो घोड़ागाड़ियाँ थीं। एक में विज्ञान महाराज बैठे और मैं बैठा उनके चरणों के पास। युवा विद्यार्थियों ने घोड़ों को खोल दिया और हमारे मना करने के बावजूद वे स्वयं गाड़ी खींचने लगे। सचमुच वे धन्य थे, जो विज्ञान महाराज की गाड़ी खींच रहे थे।

हम लोग मेरी माँ के अतिथि थे। हमें एक अलग घर में ठहराया गया। मेरी बहन हम लोगों के लिए भोजन पकाया करती थी।

उनके वहाँ निवास के सम्बन्ध में मैं अधिक विस्तार में नहीं जाऊँगा, केवल इतना ही कहूँगा कि मेरी माँ के घर में स्थित छोटे से मन्दिर में उन्होंने विष्णुपुर के कई

भक्तों को दीक्षा देकर कृतार्थ किया।

हम लोगों के जयरामवाटी और कामारपुकुर जाने की सारी व्यवस्था हो चुकी थी। रात को विज्ञान महाराज भोजन कर रहे थे। मेरी माँ उनके निकट ही खड़ी थीं। बातचीत के दौरान माँ बोलीं, "आपके साथ जयरामवाटी जाने की मेरी भी इच्छा है।" विज्ञान महाराज ने उत्तर दिया, "कार में तो जगह नहीं है।" माँ ने आग्रह किया, "मुझे भी अपने साथ ले चलिए न।" विज्ञान महाराज बोले, "ठीक है, फिर तुम मेरे सिर पर बैठकर हम लोगों के साथ चलो।" यह सुनकर माँ ने विनयपूर्वक उनके श्रीचरणों में साष्टांग प्रणाम किया और बोलीं, "जी नहीं, मैं तो आपके पावन चरणों में बैठकर जाऊँगी।" यह सुन विज्ञान महाराज के चेहरे पर मुसकराहट खेल गयी, वे बोले, "तुम्हारी जीत हुई।"

हम लोगों ने एक मोटरकार और एक बस किराये पर ली। कार में विज्ञान महाराज और सिस्टर ललिता पीछे सीट पर बैठे, मैं तथा एक अन्य भक्त सामने ड्राइवर के पास। बस में बाँकुड़ा आश्रम से आये संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण के साथ मेरी माँ एवं भाईगण सपरिवार चले।

श्रीरामकृष्णदेव के एक अन्तरंग शिष्य के साथ जयरामवाटी और कामारपुकुर में होना एक अत्यन्त आनन्द का अवसर था। जिस घर में श्रीरामकृष्ण और श्रीमाताजी रहे थे, वहाँ की चौखट के पास बैठे विज्ञान

महाराज की ओर दृष्टिपात कर जो सिहरन मुझे हुई थी, वह मुझे अब भी स्पष्ट स्मरण है। उन लोगों की जीवन्त उपस्थिति महसूस हुई थी।

उस समय जयरामवाटी और कामारपुकुर में इतने लोगों के ठहरने की व्यवस्था नहीं थी। हम लोगों को उसी दिन लौट आना पड़ा।

विष्णुपुर लौट आने के बाद विज्ञान महाराज मुझसे बोले, "क्या सिस्टर (श्रीमती वाइकाफ) अद्‍भुत नहीं है? जाते और आते हम लोग इतने घण्टे एक साथ कार में बैठे, पर वह एक भी शब्द नहीं बोली। वह कितनी मितभाषी है!"

विज्ञान महाराज अबतक जितनी अमेरिकन महिलाओं से मिले थे, वे सभी वातूनी थीं। बातचीत करते रहने की उन्हें शिक्षा मिली थी। पर सिस्टर का स्वभाव उनसे भिन्न था। वे स्वामी विवेकानन्द और स्वामी तुरीयानन्द से मिल चुकी थीं और चुपचाप उन्हें अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। एकदिन स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा था, "तुम शान्तिपूर्वक प्रभु का कार्य करते रहना।" और उन्होंने वही किया भी। स्वामीजी के प्रति उनकी मूक-भक्ति के कारण ही आज दक्षिणी कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति अस्तित्व में है।

एक दिन बातचीत के दौरान मैंने स्वामी विज्ञानानन्दजी को वे बातें कह सुनायीं, जो महाराज ने मुझे उनकी महानता के बारे में बतायी थीं। उत्तर में वे बोले,

"अरे, अवनी ! उन सब बातों पर विश्वास मत करना। महाराज ने बूँद में समुद्र के बराबर अच्छाई देखी थी!"

बाँकुड़ा आश्रम के वरिष्ठ संन्यासी ने स्वामी विज्ञानानन्द से बाँकुड़ा चलने का आग्रह किया, क्योंकि वहाँ बहुत से भक्तगण उनकी कृपा प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस आग्रह के उत्तर में उन्होंने एक विस्मयकारी बात कही, "जब तक अवनी मुझसे जाने के लिए नहीं कहेगा, मैं नहीं जाऊँगा।" अतः उस आश्रम के अध्यक्ष मेरे पास आये और विज्ञानानन्दजी ने जो कुछ कहा था, मुझे कह सुनाया। मैं उनसे बोला, "पर मैं कैसे उन्हें जाने के लिए कह सकता हूँ ? हम लोग उनकी उपस्थिति में एक अद्‌भुत आध्यात्मिक आनन्द उठा रहे हैं। फिर मेरे लिए यह कैसे सम्भव है कि मैं उन्हें जाने को कहूँ ?" पर मेरे इन भाई ने पीछा नहीं छोड़ा और वे मुझसे कुछ करने के लिए लगातार आग्रह करते रहे। फलतः मैंने उनसे कहा, "ठीक है, मैं देखता हूँ मुझसे क्या हो सकता है।" मैं स्वामी विज्ञानानन्दजी के पास गया और उनके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उन्होंने मेरी ओर देखा और कहा, "अच्छा, तुम्हारी इच्छा है कि मैं जाऊँ ?"

"जी नहीं महाराज ! पर मेरा आपसे निवेदन है कि आप बाँकुड़ा में प्रतीक्षा कर रहे भक्तों को मुक्ति देने की कृपा करें।" वे तुरन्त कार में बैठ उन आश्रमाध्यक्ष के साथ चल पड़े। उस समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उन्होंने ब्रह्मज्ञ के रूप में दूसरों को मुक्त करने की अपनी

क्षमता को इस प्रकार मेरे सामने प्रकट किया है।

बहुत ही विरल अवसरों पर स्वामी विज्ञानानन्द अपने दिव्य दर्शनों की बातें सुनाया करते थे। एक बार उन्होंने मुझे निम्नलिखित अनुभूति सुनायी थी—

"मैं सारनाथ-दर्शन को गया हुआ था। एकाएक मैं अपना बाह्य ज्ञान खो बैठा। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरा मन बिल्कुल शून्य हो गया है और मैं शान्ति, आनन्द एवं ज्ञान से स्पन्दित प्रकाश के एक महासमुद्र से घिर गया हूँ। ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैं बुद्ध में ही अवस्थित हूँ। स्मरण नहीं, कितनी देर तक उस स्थिति में रहा। गाइड ने सोचा कि मुझे नींद आ गयी है। देरी होने के कारण उसने मुझे जगाने का प्रयास किया और इस प्रकार वह मुझे सामान्य-अवस्था में ले आया। बाद में जब मैं वाराणसी के विश्वनाथ-मन्दिर में दर्शन को गया, मेरे मन में आया, 'मैं यहां किसलिए आया हूँ? क्या एक पत्थर को देखने?' तभी पुनः वही अनुभूति हुई। ऐसा लगा मानो विश्वनाथ मुझसे कह रहे हों, 'यहाँ और वहाँ, सर्वत्र एक ही प्रकाश है—सत्य एक है'।"

☒

हमारा वास्तविक स्वरूप

कुमारी सरोज बाला

(प्रखर मेधासम्पन्न इस बालिका का जन्म १ नवम्बर, १९५६ को हुआ है। आश्रम में इनके कई प्रवचन हो चुके हैं। प्रस्तुत लेख उनके द्वारा आश्रम में २४ अक्तूबर, १९६९ को दिये गये प्रवचन का अंश है।--सं०)

परात्पर परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए भगवती गीता के अन्तर्गत कहते हैं--

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२/२०॥

--अर्जुन! "यह आत्मा न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है एवं शरीर का वध हो जाय, तो भी मारा नहीं जाता।" यह आत्मा असंग, अकर्ता, अभोक्ता एवं असंसारी है। यह सत्-चित्-आनन्दमय, सर्व का साक्षी एवं सर्वद्रष्टा है। यह है हमारा वास्तविक स्वरूप। सुख-दुःख तो अन्तःकरण के धर्म हैं। सुख-दुःख आत्मा में नहीं हैं। अगर सुख-दुःख आत्मा में होते, तो उनकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती थी। शास्त्र का सिद्धान्त है कि जिसका जो स्वभाव होता है, वह उससे कभी भी विलग नहीं हो सकता। जैसे, अग्नि का स्वभाव है ताप। यदि हम उसे हिमालय में भी ले जायँ, तो उसका स्वभाव ठण्डा नहीं हो

सकता। जल का स्वभाव शीतल है, उसके गर्म होने की सम्भावना नहीं की जा सकती। इसी तरह यदि यह आत्मा सुखी-दुःखी, दीन-हीन, कर्ता-भोक्ता होता, तो सुख-दुःख का कभी भी विनाश नहीं हो सकता था, और न मानव मोक्ष की कभी कामना ही कर सकता था। हमारे शास्त्र और महापुरुष उच्च स्वर से घोषित करते हुए कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप सुख-दुःख आदि उपाधियों से सर्वथा भिन्न है। सुख-दुःख तो अपनी अपनी भावनाओं का फल है। बाह्य पदार्थों में हमारे वास्तविक स्वरूप की स्थिति नहीं हो सकती। जब हम इन बाह्य पदार्थों का त्याग करके उनसे ऊपर उठेंगे, तो हमारा वास्तविक स्वरूप अपने आप हमारी आँखों के सामने प्रकट हो जायगा, हमारी मंजिल हमारे कदमों के नीचे आ जायगी। हमारा यह स्वरूप कभी बाधित नहीं होता, कभी खण्डित नहीं होता। जैसे, यदि घट के भीतर के आकाश को तिल या जौ से भर दिया जाय, तो क्या उससे आकाश बाधित होता है? क्या उससे घट का आकाश नष्ट होता है? नहीं। ठीक इसी प्रकार यह जो आत्मा है, यह पूर्व में जैसा था, वैसा ही अब भी है। श्रुति आत्मा की नित्यता का वर्णन करते हुए कहती है—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' —वह आकाश के समान सबमें व्याप्त और नित्य है। परन्तु अविद्यावशात् यह जीव, यह राज-कुमार बाह्य पदार्थों को अपने में आरोपित कर, दूसरों के धर्म तथा गुणों से अपना सम्बन्ध पैदा कर अपने

को भिखारी मानता हुआ संसार की गन्दी-सड़ी गलियों में भटकता फिरता है। हमारे सन्त-महापुरुष हमें अपने इसी वास्तविक स्वरूप को समझाते हैं और हमें हमारा अपना ही गीत सुनाते हैं। मैं भी जब आती हूँ, तो आपको आपके ही गीत सुनाती हूँ--

कब किसकी कहानी मैं सुनाने आती हूँ।
तुम्हारी ही कहानी तुमको सुनाने आती हूँ॥

हमारे शास्त्र भी हमें अपने ही स्वरूप का ज्ञान देते हैं। वे कहते हैं--

"य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकान् आप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच।"
—'जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसे खोजना चाहिए और उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। जो उस आत्मा को शास्त्र और गुरु के उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है--ऐसा प्रजापति ने कहा।'

पर मानव के हृदयपटल पर विषयों का प्रभाव इतना गहरा है कि उसे अपने इस स्वरूप की प्रतीति नहीं होती। श्रुति कहती है—'आत्मा अपहतपाप्मा'—आत्मा का पाप से कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन जीव क्या कहता है?

--'पापी अहम्'--मैं पापी हूँ! श्रुति कहती है--'विमृत्युः'--तुममें मृत्यु नहीं है। लेकिन जीव क्या कहता है? --'मृतोऽहम्'--हाय! मैं मर गया! श्रुति कहती है--'विजरः'--तुम वृद्धावस्था से रहित हो। लेकिन जीव क्या कहता है?--'वृद्धोऽहम्'--मैं बूढ़ा हूँ! श्रुति कहती है--'विजिघत्सोऽपिपासः'--तुम भूख से रहित हो, प्यास से रहित हो। लेकिन जीव क्या कहता है?--'बुभुक्षितोऽहम'--मैं भूखा हूँ! 'पिपासितोऽहम्'--मैं प्यासा हूँ!

पर वास्तव में तुममें इस जन्म, मृत्यु, रूप, यौवन आदि का लेश मात्र नहीं है। तुम संसार के सर्वथा ऊपर हो, तुम प्राणों के प्राण हो, काल के भी काल हो, अमृत के अतुल भाण्डार हो। जैसे भरपेट भोजन करके सोया हुआ व्यक्ति सपने में अपने को भिखारी मानकर, भूख की ज्वाला से पीड़ित हो दर दर भीख माँगता फिरता है, पर स्वप्न टूट जाने पर देखता है कि न तो उसे भूख लगी है, न ही वह भीख माँगनेवाला भिखारी है, इसी प्रकार जब तक जीव अविद्या-निशा में सोया हुआ है, तभी तक नाना प्रकार के सपने देखता रहता है; पर ज्योंही वह अज्ञान-निद्रा से जागकर अपने को ऐसा जानता है कि 'असंगो हि अयम् आत्मा'--यह आत्मा असंग है, अकर्ता और अभोक्ता है, त्योंही वह द्वन्द्वों के ऊपर उठकर अपनें सच्चे स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। जैसे लोहे का गोला आग से सम्बन्धित होकर स्वयं आग ही बन जाता है, वैसे ही यह आत्मा मन-बुद्धि-इन्द्रियों की उपाधि से सम्बन्धित होकर

कर्ता और भोक्ता प्रतीत होता है। पर यह प्रतीति वस्तुतः काल्पनिक है, झूठी है, और सच कहें तो वह क्षणिक है। जब तक हम अपने मन को इस संसार में, बाह्य पदार्थों में लगाये रखेंगे, तब तक इस प्रतीति का विनाश न होगा। मन का स्वभाव ऐसा है कि उसे संसार से लगाओ, तो वह संसार-रूप हो जाता है; और संसार से हटाकर उसे ईश्वर में लगाओ, तो ईश्वरस्वरूप हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मा को मुक्त नहीं होना है, वह तो नित्य मुक्त है ही, असल में मन को ही मुक्त करना है, उसी को इसी संसार के विषयों से हटाना है। उर्दू के एक कवि ने बड़ा सुन्दर लिखा है—

नुकता के हेर-फेर से खुद ही खुदा हुआ।
नुकता जो फिर रख दिया तो खुद ही जुदा हुआ ।।

उर्दू में खुदा और जुदा एक ही तरह से लिखे जाते हैं। दोनों में बस एक नुकते का अन्तर होता है। अगर नुकते को ऊपर लगा दिया, तो खुदा बन जाता है और नीचे लगा दिया, तो जुदा। तो, यह मन है नुकता-रूप। अगर उसे ऊपर ईश्वर के साथ लगा दो, तो खुदा बन जाओगे। अगर उसे नीचे संसार के साथ लगा दो, तो जुदा हो जाओगे; ईश्वर से अलग हो जाओगे। छान्दोग्य उपनिषद् में परमात्मा का एक नाम 'उत्' बताया गया है। 'उत्' का अर्थ होता है ऊपर। वहाँ कहा गया है—'उत्तैति सर्वेभ्यः पापेभ्यः'—जो समस्त पापों से परे है। उस ईश्वर को पकड़ने से भवसागर से पार हो जाओगे, अविद्या की

कालरात्रि का विनाश हो जायगा और चिदाकाश ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

पर एक बात ध्यान में रखना। जो यथार्थ ज्ञानी होता है, वह सांसारिक कर्मों को छोड़ नहीं देता। वह हाथ-पैर और सभी इन्द्रियों से तो कर्म करता है, पर उसका मन सदैव उस परम तत्त्व में लगा रहता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में भगवती गीता का कथन है--

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। २/६४ ।।

--अपना आत्मा यानी अन्तःकरण जिसके वश में है, वह पुरुष प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बरतता हुआ भी चित्त से प्रसन्न रहता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी संसार के कर्मों से भागता नहीं। वह तो संसार को परमात्मा की आज्ञा से माया के द्वारा निर्मित एक चित्ताकर्षक, मनमोहक उद्यान मानता है। वह संसार की सुन्दरता देखकर इसमें फँसता नहीं, बल्कि इसे परमात्मा की कारीगरी मान समझने की चेष्टा करता है। उसके जो संचित और क्रियमाण कर्म हैं, वे सभी इस ज्ञानाग्नि में दग्ध होकर भस्म हो जाते हैं। वह अपने प्रारब्ध कर्मों को महाराजा जनक की तरह संसार में अनासक्त भाव से रहता हुआ भोग लेता है। उसे इस संसार में 'न काहू से दोस्ती न काहू से बैर'। उसका न किसी से राग है और न किसी से द्वेष। मोह से ही मनुष्य को राग-द्वेष हुआ करते हैं। ज्ञान तो मोह का

प्रतिबन्धक है। ज्ञान-सूर्य के उदित होते ही मोहान्धकार भाग जाता है। बिना इस ज्ञान की प्राप्ति के मुक्ति नहीं हो सकती। श्रुति भगवती कहती है—'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'—'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है;' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'—'पर कैवल्य तो ज्ञान से ही प्राप्त होता है'। अतएव यदि मोक्षपद की प्राप्ति करना चाहते हो, तो ज्ञान के अलावा और कोई रास्ता नहीं है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान प्राप्त कैसे हो? यह ज्ञान तभी मिलता है, जब हम पर ईश्वर की कृपा होती है। ईश्वर की कृपा भी तब होती है, जब हमारा उनके प्रति सच्चा प्रेम होता है। ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम एकदम से नहीं हो जाता। उसके लिए हमें साधना करनी पड़ती है। आज संसार हमें अपनी ओर खींच रहा है, इसीलिए भगवान् की ओर हमें कोई खिचाव महसूस नहीं होता। जब हम संसार का विचार करेंगे, तो देखेंगे कि वह थोथा है, विषय थोथे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को उपदेश देते हुए कहते हैं—

यदर्पितं तद् विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्।

—'यह संसार विविध कल्पनाओं से भरपूर है। सच पूछो तो इसका नाम तो है, किन्तु कोई वस्तु नहीं है। जब चित्त इसमें लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियों के साथ इधर-उधर भटकने लगता है। इस प्रकार चित्त में रजोगुण की बाढ़ आ जाती है, वह असत् वस्तु में लग

जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त ही हो जाते हैं, वह अधर्म, अज्ञान और मोह का भी घर बन जाता है।'

पर ऐसा थोथा संसार भी हमारे लिए भगवान् को पाने का सोपान बन सकता है। तभी तो शास्त्र कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

—'यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है; परन्तु इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए अनेक जन्मों के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु के पहले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय भोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इसीलिए उनके संग्रह में यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिए।'

ये बातें हमें और भी अच्छी तरह से समझ में आयेंगी, यदि हम सत्संग करें। सत्संग में अपार शक्ति है। सत्संग के द्वारा बड़े से बड़े पापी का उद्धार हो गया है। तभी तो भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं—

सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥

—'हे निष्पाप उद्धव! यह एक युग की ही नहीं, बल्कि सभी युगों की एक-सी बात है कि सत्संग के द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरों को मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के बहुत से जीवों ने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्व, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रज की गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त कर सके हैं।'

यदि कहो कि उन लोगों ने वेद पढ़े होंगे, शास्त्रों का अध्ययन किया होगा, तो भगवान् कहते हैं—न,—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुमागताः॥

—'न तो उन लोगों ने वेदों का स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषों की उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग के प्रभाव से ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

पर यह सत्संग भी तभी प्राप्त होता है, जब हमारे पुण्यों का उदय होता है। देवर्षि नारद कहते हैं——

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार –
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥

——'जब अनेकों जन्मों के संचित पुण्यों का उदय होता है, तब मनुष्य को सत्संग प्राप्त होता है। यह सत्संग उसके अज्ञानजनित मोह और मदरूप अन्धकार का नाश कर देता है, जिससे उसमें विवेक का उदय होता है।'

अतएव हमें नित्यप्रति सत्संग करना चाहिए। आप पूछ सकते हैं कि जब एक बार सुनने से बात मालूम हो गयी, तो फिर हम रोज क्या सत्संग करें? तो देखिए, यदि आप मकान के एक कमरे को रोज झाड़ते हैं, तो वह साफ-सुथरा रहता है, परिश्रम भी कम पड़ता है। लेकिन आप पन्द्रह दिन न झाड़ें, तो बहुत अधिक परिश्रम पड़ेगा। वहाँ बहुत ज्यादा कचरा जम जायगा। रोज झाड़ते रहने से कचरा भी कम जमेगा और उसकी सफाई भी अच्छी तरह से हो सकेगी। इसी तरह, यदि हमने महीने में, दो महीने में, तीन महीने में कभी सत्संग कर लिया, तो यह मैला पट जल्दी धुल न पाएगा। इसलिए हमेशा सत्संग करो। कौन जाने सत्संग में कब कौन सी बात असर कर जाय और हमारा कल्याण हो जाय! इसलिए श्रद्धा सहित सत्संग करो।

सत्संग से भगवान् के भजन की प्रेरणा मिलेगी। भजन से अनृत की—असत्य की निवृत्ति होगी। अनृत की निवृत्ति से निष्ठा बढ़ेगी। निष्ठा से आसक्ति नष्ट होगी। आसक्ति के नाश से भाव उत्पन्न होगा। भाव से प्रेम पैदा होगा। प्रेम से भक्ति जागेगी। भक्ति से ज्ञान का उदय होगा और ज्ञान से हमें मुक्ति की प्राप्ति होगी। इस क्रम की पहली सीढ़ी है सत्संग। सत्संग से हमारे विचार बदलते हैं। जैसे, रेलगाड़ी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए उठाने की आवश्यकता नहीं होती, केवल पटरी को बदल दिया जाता है, उसी प्रकार मन को ईश्वर तक ले जाने के लिए किसी तोड़-फोड़ की आवश्यकता नहीं होती, केवल विचारों की पटरी को बदल देना पड़ता है। आज हमारा मन संसार के बाह्य पदार्थों में लगा हुआ है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप की ओर मोड़ दो। मन को अन्तर्मुखी बना लो। देखोगे, जीवन सुख और शान्ति से भर जायगा।

●

"तुम सदैव कह सकते हो कि प्रतिमा ईश्वर है। केवल यही सोचने की भूल से बचना कि ईश्वर प्रतिमा है।"

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

भारत में ईसाई मिशनरियों के कारनामों का भण्डाफोड़

जब स्वामीजी डिट्रायट से बिदा हुए थे, तो उनका यहाँ पुनः लौटने का इरादा नहीं था। वे तो वहाँ से भारत वापस जाने का निश्चय कर चुके थे। उनका अचानक डिट्रायट में पुनः उपस्थित होना, हो सकता है, उनके मित्रों और शुभचिन्तकों की इच्छा का परिणाम हो, जिन्होंने मिशनरी-दुष्प्रचारों का उचित उत्तर देने के लिए उन्हें बुलाना आवश्यक समझा हो। स्वामीजी के डिट्रायट आने की सूचना १० मार्च १८९४ को 'ईवनिंग न्यूज' में प्रकाशित हुई। उनके आगमन की खबर ने जहाँ एक ओर कट्टरपन्थी मिशनरी खेमे में मायूसी ला दी, वहीं उदार-मना प्रबुद्ध व्यक्ति उल्लसित हो उठे। अखबारों के माध्यम से उनका उत्साह प्रतिध्वनित हो उठा। स्वामीजी के स्वागत में सबसे अधिक आनन्द प्रकट किया ओ० पी० डेलडॉक ने। ये वही थे, जिन्होंने पहले भी अपने पत्रों द्वारा स्वामीजी का पुरजोर समर्थन किया था। 'डिट्रायट क्रिटिक' जैसे ख्यातनामा पत्रों में उनके लेखों तथा पत्रों का प्रकाशित होना इस बात का सबूत था कि उनका साहित्यिक क्षेत्र में काफी दबदबा था। उनके ये पत्र केवल उन्हीं की राय प्रकट करते हों, ऐसी बात नहीं; वे तो समस्त उदार दृष्टिकोणवाले स्त्री-पुरुषों की आवाज बुलन्द करते थे, जो साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता की कैद से

मुक्त होने के लिए छटपटा रहे थे। 'डिट्रायट क्रिटिक' के ११ मार्च के अंक में प्रकाशित उनके पत्र का शीर्षक इस प्रकार था--

"पाखण्डीगण"

ईसाई धर्म में जिनकी भरमार है तथा जो
सुविधा के लबादे में अपना सिर छुपाये हुए हैं।
हिन्दू विवेकानन्द का स्वागत है
एक सशक्त लेखक की अत्यन्त तीखी कलम
द्वारा कानन्दा के प्रति किये गये दुर्व्यवहार की आलोचना
कुछ सत्य जिन्हें निगलना अत्यन्त कठिन
विवेकानन्द को एक खुला पत्र

इस पत्र में लेखक ने स्वामीजी को मिशनरी-कार्य में पुनः प्रवृत्त होने के लिए धन्यवाद दिया। उसकी दृष्टि में ईसाई मिशनरियों द्वारा किये सारे कार्य स्वार्थप्रेरित थे। हाल में आयोजित छात्र-आन्दोलन अधकचरे रँगरूटों का धर्म के प्रति थोथा प्रदर्शन था, एक दिखावा मात्र था। "...उनके सारे प्रयास विदेशों को लक्ष्य करके हैं। वे अधिक मिशनरी भेजना चाहते हैं, ताकि विधर्मियों का अधिकाधिक धर्म-परिवर्तन कर सकें। ...बाहर जाने के उतावलेपन में वे भूल जाते हैं कि उनके अपने ही देश में भ्रष्टता को प्राप्त स्त्री-पुरुष हैं, जिनके बीच मिशनरी-कार्य की आवश्यकता है। मुझे यह देख आनन्द होता है कि आप मैदान में उतरे हैं। हमें आपकी आवश्यकता है। ...हमारे अठारह सौ साल से भी अधिक के पुराने अनुभवों ने बता दिया है कि हम अपने ही मिशनरियों पर

निर्भर नहीं रह सकते।..." भारत से और मिशनरी भेजने की माँग करते हुए लेखक ने लिखा, "आपका धर्म हजारों वर्षों से क्षमा और प्रेम का, करुणा और सचाई का, विज्ञान, तर्क और न्याय का रहा है, जबकि हमारा धर्म धर्मान्धता, उत्पीड़न, युद्ध, खूनखराबी और घृणा का, किस्से-कहानियों और भ्रान्तियों का; धूर्तता तथा ढोंग का रहा है।..." अमरीकी सभ्यता के थोथेपन की पोल खोलते हुए उसने लिखा, "पहली बात तो यह है कि हम भी मूर्तियों के पुजारी हैं और हमारी मूर्तियाँ हैं—चाँदी और सोना।...हमारी देशभक्ति घुटने-भर मानवीय रक्त में डूबी हुई है। खून-खच्चर ही हमारे धर्म का मूलभूत आधार है।" अमेरिका में व्याप्त अनैतिकता का लेखक ने विशद रूप से वर्णन किया। वहाँ प्रचलित शिशु-हत्या का, स्त्रियों और बच्चों की गुलामी का, राजनीति, प्रेस तथा गिरजाघरों में व्याप्त भ्रष्टाचार का, पशुओं के साथ होने-वाले अमानुषिक व्यवहार का, पागलों की उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या का, डकैती, बहुविवाह की प्रथा तथा वेश्या-वृत्ति का, उच्च समाज में व्याप्त नशेबाजी तथा अफीम-खोरी का यथार्थ चित्रण करते हुए उसनें अन्त में लिखा, "प्रिय स्वामी, ये ही सार-संक्षेप में खुले-आम दिखायी देनेवाले कुछ तथ्य हैं, जिनका अनुभव आपने अपने इस अल्प निवास में ही यहाँ किया होगा। गिरजों की दीवालों पर चौकसी करनेवाले हमारे इन ठेकेदारों ने आपकी भर्त्सना की है, आलंकारिक भाषा में यदि कहें तो आपकी

पीठ पर लात मारी है, तथा अपने पड़ोसियों के समक्ष—आपके तथा अन्य देशों के सामने—झूठा मुखौटा प्रस्तुत किया है।...आवश्यकता के इन क्षणों में हम सहायता के लिए किधर ताकें? हमारी उत्सुक आँखें, आशा लिये, पूर्व की ओर—'प्राच्य के उन मनीषियों की ओर' उठ जाती हैं, जहाँ बेतलहम का सितारा उगा था तथा जहाँ भगवान् की उज्ज्वल रवि-रश्मियों के लिए सदैव उषाकाल है। यदि आपका धर्म हमारी अपेक्षा पवित्रतर है—कम से कम हमारे जैसा निकृष्ट तो नहीं ही है—तो मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप आयें और हमें सहायता दें।"

डेलडॉक के इस पत्र का उत्तर देने में 'ऑक्सीडेण्टल' भी पीछे न था। वह तो मानो समस्त कट्टरपन्थी धर्मान्धों का प्रतिनिधि था। उसका १० मार्च का पत्र स्वामीजी के आगमन के दो दिन बाद 'फ्री प्रेस' के १२ मार्च के अंक में प्रकाशित हुआ। 'आक्सीडेण्टल' के पास कहने के लिए नया कुछ न था। विदेशी यात्रियों तथा मिशनरियों द्वारा भारत के विरुद्ध कही बातों की उसने खूब नमक-मिर्च लगाकर चर्चा की। उसका प्रमुख विषय था भारत में होनेवाली बर्बर शिशुहत्या तथा विधवाओं को जीते-जी जलाने की क्रिया। अपनें तथ्य की पुष्टि में उसने एक मिशनरी का हवाला देते हुए लिखा, "पिछले हफ्ते हमारे शहर में एक महिला ने एक मिशनरी महिला से भारत में होनेवाले भयानक शिशु-हत्या के सम्बन्ध में पूछताछ की। उसे उत्तर मिला, 'इसमें शक की बात ही क्या?

यह एकदम सत्य है। क्या तुम नहीं जानतीं कि चरित्र और नैतिकता का हिन्दुओं के लिए कोई अर्थ नहीं ? तुम यह समझ लो कि वे वैसे ही निकृष्ट हैं, जैसे चीनी या जापानी।...' प्रश्नकर्ता ने कहा, 'पर कानन्दा तो इसे स्वीकार नहीं करते।' मिशनरी ने इस पर मुसकराकर, कन्धे हिलाते हुए, चेहरे पर अत्यधिक शंका का भाव दर्शाकर कहा, 'शायद उन्हें न मालूम हो!' भयानकता की हद! विशाल पैमाने में शिशुहत्या! विषधर सर्पों और मगरों की भरमार! सफेद झूठ!... यह जानना मुश्किल है कि कौन अधिक दोषी है—जान-बूझकर झूठ बोलनेवाला यह शिक्षित 'हीदन' अथवा वह मिशनरी, जो अपनी राय साफ साफ जाहिर करने में असमर्थ रही हो ?

" 'जो एक में झूठा, वह सभी में झूठा।' अतः जब तक आपको अन्य माध्यमों से विश्वसनीय प्रमाण न मिल जाय, कानन्दा की सभी बातों को थोड़ा कम ही स्वीकारें। ईश्वर के लिए हमें खरी सचाई को ही अपनाना चाहिए।"

कहना न होगा कि 'आक्सीडेण्टल' का यह पत्र दुराग्रह से भरा हुआ था। यह तो उन कट्टरपन्थियों की आवाज थी, जो गत दो हफ्तों से स्वामीजी की अनुपस्थिति में उनके विरुद्ध मुखरित हो रही थी। स्वामीजी और भारत की निन्दा करने में धर्मान्ध ईसाइयों ने कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी थी। अतः स्वामीजी के पुनः डिट्रायट आने के समाचार से उनका विचलित होना स्वाभाविक था। इधर स्वामीजी के मित्रों ने

स्वामीजी से भारत के विरुद्ध किये जानेवाले इस ईसाई-दुष्प्रचार के परिहार की प्रार्थना की। इसीलिए स्वामीजी ने अपने भाषण का विषय चुना—'भारत में ईसाई मिशन'। यह भाषण ११ मार्च को 'डिट्रायट ऑपेरा हाउस' में आयोजित हुआ। हाल श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। मंत्रमुग्ध हो जनता ढाई घण्टे तक उनका व्याख्यान सुनती रही। दूसरे दिन अखबारों की सुर्खियाँ उनकी प्रशंसा में मुखर थीं। विशेषकर 'डिट्रायट फ्री प्रेस' तथा 'डिट्रायट ट्रिब्यून' ने विस्तृत रूप से उनके भाषण का ब्योरा छापा। 'डिट्रायट ट्रिब्यून' ने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया। उसने लिखा—

स्वामी विवेकानन्द ने गत रात्रि ऑपेरा हाउस में विशाल श्रोताओं के बीच भाषण दिया। विषय था 'भारत में ईसाई मिशन'। यह कोई भी समझ सकता है कि यह भाषण मिशनरियों के उन वक्तव्यों का उत्तर था, जो कानन्दा को लक्ष्य कर पिछले दो हफ्तों से इस शहर में दिये गये हैं।

माननीय थामस डब्ल्यू० पामर ने पिछली रात कानन्दा का परिचय दिया। भूमिका के बतौर उन्होंने एक नीतिकथा का उल्लेख किया—"दो प्रसिद्ध शूरवीरों की मुलाकात एक जगह हुई। दोनों एक वृक्ष में एक ढाल लटकती देख रुक गये। एक ने कहा, 'कितनी सुन्दर चाँदी की ढाल है।' दूसरे ने कहा, 'नहीं, यह तो चाँदी की नहीं, ताँबे की है।' दोनों एक दूसरे के कथन पर

झगड़ने लगे और अन्त में घोड़े से उतर, घोड़ों को झाड़ से बाँध, अपनी तलवारें निकाल घण्टों लड़ते रहे। खून के चुक जाने पर दोनों चकनाचूर हो लड़खड़ाते हुए एक दूसरे के विपरीत स्थानों पर जा पड़े, जहाँ पर वे लड़ रहे थे। एक की नजर उस उद्धत ढाल की ओर गयी और वह बोल पड़ा, 'मित्र ! तुम ठीक थे, ढाल ताँबे की है।' दूसरे ने ऊपर देखा और कहा, 'नहीं, गलती तो मेरी ही थी, ढाल चाँदी की है।' यदि उन्होंने पहले ही ढाल के दोनों पहलुओं को देख लिया होता, तो इतनी खून-खराबी न होने पाती। यदि हम प्रत्येक प्रश्न के दोनों पहलुओं को देख लें, तो बहस और लड़ाई-झगड़ा कम हो जाय।"

"आज हमारे बीच एक ऐसे सज्जन हैं, जो ईसाई-दृष्टि में काफिर हैं। किन्तु वे एक ऐसे धर्म के अनुयायी हैं, जो हमारी अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। मुझे विश्वास है कि ढाल के ताँबेवाले पक्ष से सुनना आनन्ददायक होगा। हमने तो केवल उसे चाँदीवाले पहलू से ही देखा है। देवियो और सज्जनो, स्वामी विवे कानन्दा।"

कानन्दा ब्राह्मण-धर्मोपदेशक की अपनी नारंगी वेशभूषा और अद्भुत पगड़ी में सजे मंच पर विराजित थे। वे सामने आये और अपने स्वागत में प्रकट की गयी हर्षध्वनि को झुककर ग्रहण किया। फिर एकबारगी वे अपने विषय पर आ गये।

भारत क्या है ?

"मैं चीन और जापान में किये गये ईसाई मिशनरियों

के प्रयास के बारे में, सिवाय तत्सम्बन्धी पुस्तकों और साहित्य के पठन के, कुछ नहीं जानता। किन्तु मैं भारत को ईसाइयत में बदलने के प्रयास के बारे में बोल सकता हूँ। और विषय में आने के पूर्व मैं आपके सामने भारत की एक रूपरेखा प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ।"

विस्तृत रूप से चर्चा करते हुए फिर उन्होंने बताया कि कैसे तीस करोड़ भारतवासी ऐसी जातियों में बँटे हैं, जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। दक्षिण और उत्तर के निवासी एक दूसरे की भाषा नहीं समझते। उन्होंने कहा कि कैसे निम्न जाति के लोग मृत जानवरों के मांस पर रहते हैं, वे कभी स्नान नहीं करते और ऐसी अवस्था में उच्च वर्ग का उनसे मेल-जोल रखना कैसा कठिन कार्य होगा, यद्यपि उन्हें रक्षा प्रदान करनेवाले नियम एक ही हैं।

उन्होंने बुद्ध के अनुयायियों को ईसाई बनाने के लिए ईसाइयों के प्रथम आविर्भाव का हवाला दिया। वे स्पेन-निवासी थे। उन्होंने लंका के निकट एक मन्दिर की खोज की, जहाँ बुद्ध का एक दाँत पवित्र स्मृति-चिह्न के रूप में विद्यमान था।

स्पेन के इन ईसाइयों ने सोचा कि उनके ईश्वर ने उन्हें बाहर जाकर लड़ने, मारने और हत्या करने की आज्ञा दी है। अतः उन्होंने बुद्ध के दाँत को लूट लिया और उसे नष्ट कर दिया। पर वास्तव में वह बुद्ध का दाँत न था। वह तो पुरोहितों द्वारा तैयार किया गया

एक स्मृति-चिह्न था—वह एक फुट लम्वा था। (हँसी) प्रत्येक धर्म में चमत्कार होता है। अतः दाँत के एक फुट लम्बे होने पर आपको हँसना नहीं चाहिए। जो हो, दाँत छीन लेने के बाद स्पेनियों ने हजारों की हत्या कर डाली और कुछ सैकड़ों को ईसाई वना लिया। पर उसके बाद बौद्धों के बीच स्पेन के मिशनरी प्रयास का इतिहास ही खत्म हो गया।

उन्होंने कहा कि पुर्तगाल के ईसाइयों ने बम्बई में एक बड़े मन्दिर का पता लगाया। वह तीन मुखवाले शरीर (त्रिमूर्ति) के रूप में निर्मित था, जो कि त्रिदेव का प्रतिनिधित्व करता था, जिसमें हिन्दू विश्वास करते हैं।

"पुर्तगालियों ने इसे देखा, पर समझ न पाये," कानन्दा ने व्यंग्य के स्वर में कहा, "अतः उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि वह शैतान की मूर्ति है। सेना इकट्ठी कर उन्होंने मन्दिर के तीनों सिरों को धराशायी कर दिया। मानो शैतान से लोहा लेना इतनी आसान बात हो! उसे इतनी जल्दी गायब होते देख मुझे दुख होता है!"

फिर कानन्दा ने भारत में ईसाई धर्म-परिवर्तन के विभिन्न क्रमों की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने दो-तीन मिशनरियों की विशेष प्रशंसा की, जो इसके अपवादस्वरूप थे तया जो जनता को ऊपर उठाने तथा उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए उनके बीच रहे थे।

देशवासियों के हित के विरोधी

हिन्दू धर्मोपदेशक ने कहा कि जैसे ही देश अंग्रेजों के

अधिकार में आया, हर गाँव में एक गोरी बस्ती बस गयी। वे आपस में सिमटकर रहने लगे तथा देशवासियों से उन्होंने किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखा। और जब मिशनरी देश में पहुँचते हैं, तो यह स्वाभाविक है कि वे तुरत अंग्रेजों के पास जाते हैं, क्योंकि उनसे उन्हें सहानुभूति मिलती है और उनके साथ वे बातचीत कर सकते हैं। मिशनरियों को देशी भाषा के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं रहती, इसलिए वे जनता के बीच नहीं रह सकते। उनमें से अधिकांश विवाहित होते हैं और अपनी पत्नियो को अंग्रेजी समाज में प्रवेश दिलाने हेतु वे सब प्रकार से अंग्रेजों की हाँ में हाँ मिलाते हैं। इससे वे देशवासियों के हितों पर सीधा कुठाराघात करते हैं और इसीलिए देश-वासियों से सम्पर्क साधना उनके लिए असम्भव हो जाता है।

वे बोले, "भारत में कभी कभी दुर्भिक्ष का प्रकोप होता है। दुर्भिक्ष के शेषकाल में ये नवजवान मिशनरी भूख से मरते देशी आदमियों को घेर पाँच-पाँच शिलिंग बाँटते हैं और इस प्रकार उन्हें बने-बनाये ईसाई मिल जाते हैं। अब 'मेथॉडिस्ट' मिशनरी आता है, पहलेवाला शायद 'बैप्तिस्त' रहा हो, और यह भी उस देशी आदमी को पाँच शिलिंग देता है, और उसका नाम फिर से धर्म-बदलू के रूप में उसके खाते में लिख लिया जाता है। प्रत्येक मिशनरी के इर्द-गिर्द उन्हीं धर्म-बदलुओं का झुण्ड रहता है, जो उस पर जीविका के लिए आश्रित रहते हैं। उन्हें या तो ईसाई होना है, नहीं तो भूखों मरना है।

और जैसे ही पैसा बाँटने का काम ढीला पड़ता है, उनकी संख्या गायब होने लगती है। मुझे प्रसन्नता है यदि आप गरीबों को काम और रोटी देकर उन्हें ईसाई बनाना चाहें। ईश्वर इसमें आपकी मदद करे। इस मिशनरी-आन्दोलन ने एक लाभ पहुँचाया है, जिसका श्रेय उसे अवश्य दिया जाना चाहिए और वह यह है कि उसने शिक्षा को सस्ता बनाया है। मिशनरी अपने साथ कुछ धन लाते हैं, जो उन्हें लोगों से मिलता है और जिसमें से कुछ भारत की सरकार ले लेती है, और इस प्रकार मिशनरियों द्वारा देशवासियों के लिए कुछ बहुत अच्छे स्कूल तथा कालेज उपलब्ध हुए हैं। किन्तु मैं आपसे स्पष्ट कहूँगा, इन स्कूलों से कोई ईसाई धर्म में नहीं गया। हिन्दू बालक बड़ा चतुर होता है। वह काँटा बचाकर चारा गटक जाता है।"

वक्ता ने कहा कि महिला मिशनरी कुछ घरों में जाती है। इसके लिए महीने में वह चार शिलिंग पाती है; वहाँ जाकर बाइबिल पढ़ती है, पर देशी लड़कियाँ उसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखातीं। वह उन्हें फिर बुनाई का काम सिखाती है, जिसे लड़कियाँ बड़े मनोयोग से सीखती हैं। लड़कियाँ भी, लड़कों की ही भाँति, व्यावहारिक चीजें सीखने के लिए हमेशा तत्पर रहती हैं। पर वे ईसाई धर्म की ओर कम ही ध्यान देती हैं, भले ही वे इसे अपना लें, यदि अन्य लाभों को पाने के लिए वह जरूरी हो।

अधिकांश मिशनरी अयोग्य

उन्होंने कहा, "जिन बहुत से लोगों को आप हमारे

पास मिशनरी के रूप में भेजते हैं, वे उसके लायक नहीं। मुझे एक भी ऐसे व्यक्ति की जानकारी नहीं मिली, जिसने भारत में मिशनरी होकर आने से पूर्व संस्कृत पढ़ी हो, जबकि हमारा सारा साहित्य और सारे ग्रन्थ उसी में छपे हैं।" उन्होंने मिशनरियों के अपने देश से बाहर जाने का कारण सुझाते हुए कहा, "उनके अपने देश में विद्यमान नास्तिकता तथा संशयवाद ही शायद मिशनरियों को बाहर सारे संसार में ढकेल रहा है।" उन्होंने बताया, जब वे भारत में थे, तो उन्हें लगा था कि ईसाई धर्म का एकमात्र कार्य सब लोगों को नरक की आग में झोंकना है, किन्तु अमेरिका में आने के बाद उन्हें मालूम पड़ा कि यहाँ भी बहुत से उदारमना व्यक्ति हैं। विश्वधर्म-सम्मेलन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि कैसे एक प्रिसबिटेरियन पत्र के सम्पादक ने सम्मेलन के अन्त में 'झूठा हिन्दू' के शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्हें अत्यधिक रूप से अपमानित किया था। सम्पादक ने उस लेख में लिखा था, "धर्म-सम्मेलन तक वह हमारा अतिथि था। अब चूँकि वह समाप्त हो चुका है, हमें चाहिए कि हम उसके तथा उसके सिद्धान्तों के विरुद्ध पूरे जोर-शोर से आक्रमण करें।"

भारत में चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करनेवाले मिशनरियों का उल्लेख करते हुए कानन्दा ने कहा, "भारत को स्वास्थ्य की आवश्यकता है, और यह तन्दुरुस्ती चाहिए वहाँ के लोगों के लिए। इसके लिए यदि आप हमारे यहाँ के लोगों के सम्पर्क में नहीं आएँगे, तो किस तरह आप

उनकी सहायता कर सकते हैं ? जब आप मिशनरी के रूप में हमारे पास आते हैं, तो अपनी राष्ट्रीयता का सारा लबादा उतारकर आएँ। ईसा कभी अंग्रेज अधिकारियों के बीच शराब-कबाब उड़ाने नहीं गये। उन्होंने कभी यह परवाह नहीं की कि उनकी स्त्री कैसे बड़े योरोपीय समाज में प्रवेश पा ले। यदि आपका मिशनरी ईसा का अनुकरण नहीं करता, तो उसे अपने को ईसाई कहने का क्या अधिकार है ? हमें ईसा के मिशनरी चाहिए। भारत में आएँ ऐसे मिशनरी, सैकड़ों और हजारों की संख्या में। हमारे बीच ईसा का जीवन लाइए और उसे समाज के अन्तस्तल में भिद जाने दीजिए। उनके उपदेश भारत के हर गाँव और हर कोने में पहुँचे। किन्तु आपके मिशनरी अपने कार्य को जीविकोपार्जन का माध्यम न बनाएँ। वे अपने भीतर ईसा की पुकार अनुभव करें। वे यह महसूस करें कि वे इसी कार्य के लिए पैदा हुए हैं।

"जहाँ तक भारत को ईसाइयत में बदलने का सवाल है, इसकी कोई गुंजाइश नहीं। यदि यह सम्भव भी हो, तो ऐसा नहीं करना चाहिए। यह खतरनाक साबित होगा। यह सभी धर्मों के नाश का सूचक होगा। यदि सारा संसार भौतिक और मानसिक दृष्टि से एक ही स्वभाववाला हो जाय, तो नाश ही उसका आसन्न परिणाम होगा। आप यहूदियों का धर्म क्यों नहीं बदल सके ? आप पारसियों को ईसाई क्यों नहीं बना सके ? क्या कारण है कि आफ्रिका में यदि एक व्यक्ति ईसाई बनता है, तो

मोहम्मद के सौ अनुयायी बन जाते हैं? आप भारत, चीन और जापान में अपना प्रभाव क्यों नहीं जमा पाते ? इसलिए कि सारे संसार में एकरूपता का परिणाम मृत्यु होगा। प्रकृति अधिक अक्लमन्द है, वह ऐसा नहीं होने देगी।

संसार को खून से रँग दिया

"ईसाई राष्ट्रों ने संसार को खून-खराबी और अत्याचार से भर दिया है। अभी उनके दिन हैं। आप मारते और हत्या करते हैं, मेरे देश में शराबखोरी और बीमारी लाते हैं और जले पर नमक छिड़कने के लिए, ईसा को सूली पर लटका उसका प्रचार करते हैं। ऐसी भयानक चीजों के विरुद्ध क्या कोई ईसाई-आवाज इस देश में गूँजी है ? मैंने तो कभी कुछ नहीं सुना। आपने अपनी माँ के दूध के साथ यह भाव पी लिया है कि आप फरिश्ते हैं और हम शैतान हैं। केवल सूरज की रोशनी का होना ही पर्याप्त नहीं, उसे देखने के लिए आँखें भी होनी चाहिए। केवल यही जरूरी नहीं कि लोगों में सज्जनता हो, किन्तु उसे महसूस करने के लिए अपने भीतर उसके यथोचित मूल्यांकन की क्षमता भी होनी चाहिए। और यह क्षमता सभी के हृदय में विद्यमान है, बशर्ते अन्धविश्वास तथा क्रूर पाखण्ड द्वारा इसकी हत्या न कर दी गयी हो।"

इसके पश्चात् कानन्दा ने एक अति सुन्दर उपमा द्वारा यह दर्शाया कि कैसे सभी धर्मों के मूल सत्य एक ही हैं तथा बाकी अन्य सब अनावश्यक, महत्त्वहीन परिवेश हैं। उन्होंने कहा--यदि किसी जंगली आदमी को कुछ

रत्न मिल जायँ, तो वह उन्हें कीमती समझ चमड़े की खुरदरी डोरी में बाँधकर गले में लटका लेगा। वही व्यक्ति तनिक सभ्य होने पर शायद चमड़े की डोरी के बदले रस्सी का उपयोग करेगा, कुछ और अधिक सुसंस्कृत होने पर रत्नों को रेशमी डोरे में बाँधेगा, और जब उच्च सभ्यता को प्राप्त होगा, तो अपनी इस सम्पत्ति के लिए एक कलात्मक स्वर्ण-मंजूषा तैयार करेगा। किन्तु इन समस्त परिवर्तनशील उपकरणों के बीच मुख्य वस्तु--वह रत्नराशि--तो वही रहेगी।

"जब एक हिन्दू ईसाई धर्म की आलोचना के लिए प्रस्तुत होता है, तो वह बाइबिल की कथा-कहानियों, चमत्कारों और समस्त निरर्थक बातों की चर्चा करता है, किन्तु वह 'शैलोपदेश' (Sermon on the Mount) या ईसा के सुन्दर चरित्र के विरुद्ध निन्दा का एक शब्द भी नहीं कहता। और जब ईसाई हिन्दू धर्म की आलोचना करता है, तो वह रूढ़ियों और मन्दिरों की चर्चा करता है, पर हिन्दू की नैतिकता और दर्शन के बारे में उसे कुछ नहीं कहना चाहिए। यहूदी की मदद कीजिए, और वह आपकी मदद करे। हिन्दू को सहायता पहुँचाइए और वह आपकी सहायता करे। मैं यह अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति सभी स्थानों में अच्छाई नहीं देख सकता, उसमें अच्छाई देखने की तनिक भी क्षमता है। ईसा और बुद्ध के चरित्र में एक-समान सौन्दर्य है। हम सदृशीकरण नहीं चाहते, हम चाहते हैं समन्वय और सामंजस्य। मैं

उपदेशकों से कहता हूँ कि वे प्रथम राष्ट्रीयता की भावना छोड़ें और द्वितीय, साम्प्रदायिकता के विचार। ईश्वर की सन्तानों का कोई सम्प्रदाय नहीं होता।

"भारत की महिलाओं, उनके दोषों और उनकी अवस्था के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। उनमें दोष हैं, और ईश्वर उन दोषों को ठीक करने में हमारी मदद करे। हमारी स्त्रियों की आप जो आलोचना करते हैं, उसके लिए हम आपके आभारी हैं। किन्तु जब आप उनके बारे में बोल रहे हों, तो मुझे खुशी होगी, यदि आप मुझे अमेरिका में एक ही दर्जन आध्यात्मिक स्त्रियाँ दिखला दें। एक स्त्री या पुरुष के लिए अच्छे कपड़े, धन-दौलत, तड़क-भड़क के साज और सामान, थियेटर और उपन्यास, यहाँ तक कि बौद्धिकता ही सब कुछ नहीं है। उसमें आध्यात्मिकता भी होनी चाहिए। पर इस पक्ष का ईसाई देशों में सर्वथा अभाव है। वह तो केवल भारत में है।"

गत रात्रि विवेकानन्द के विशाल श्रोतृसमुदाय ने बड़े आदर के साथ उनके विवेचन को सुना तथा दो-एक बार तालियाँ बजाकर हार्दिक हर्ष प्रकट किया।

(क्रमशः)

तिरुमंगै आलवार

स्वामी गौतमानन्द, रामकृष्ण मिशन

इस पुण्यभूमि भारत में सहस्रों वर्षों से बड़े बड़े सन्तों और महात्माओं ने विभिन्न भागों में जन्म लिया है और यहाँ आध्यात्मिकता की ज्योति को जलाये रखा है। इन महापुरुषों की श्रेणी में दक्षिण के श्रीवैष्णव भक्त-शिरोमणि 'आलवार' भी आते हैं। 'आलवार' शब्द का अर्थ है 'निमग्न, डूबा हुआ'। भगवद्भक्ति में डूबे रहने-वाले भक्त ही 'आलवार' हैं।

परम्परा कहती है कि चोल राज के अन्तर्गत 'तिरुक्कुरैयलूर' में तिरुमंगै आलवार का जन्म हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इनका जन्म सन् ८०० ई० में हुआ। कहा जाता है कि सत्ययुग में ब्राह्मण, त्रेता में क्षत्रिय तथा द्वापर में वैश्य कुलों को पावन कर इन्होंने इस कलि में शूद्रजाति को अलंकृत किया था।

बचपन से ही ये बड़े पराक्रमी योद्धा थे, इसलिए इनका नाम 'परकाल' (शत्रुओं का काल) पड़ गया था। शायद इसी कारण इन्हें भगवान् विष्णु के शाङ्‌र्ग धनु का अंशावतार भी कहते हैं। युवक परकाल लौकिक सुख में डूबे रहे।

'तिरुवेल्लक्कुलम्' नगरी में एक अत्यन्त रूपसी कन्या रहती थी। उसका नाम था कुमुदवल्ली। उसके पिता वैद्य थे। वह रूप के साथ ही विद्या और गुणों से भी सम्पन्न थी। उसकी कीर्ति सुन परकाल उसके पिता के

पास गये और कुमुदवल्ली से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। कन्याशुल्क के रूप में उन्होंने प्रचुर धन देने का वायदा किया। पर कुमुदवल्ली ने आपत्ति की कि इनमें अन्य सब गुण होते हुए भी ये विष्णु के भक्त नहीं हैं; मैं वैष्णव के सिवा किसी और से विवाह नहीं करूँगी।

अतएव परकाल ने अपने को श्रीवैष्णव आचार्यों से 'संस्कृत' (शुद्ध) करवा लिया और वे पुनः कुमुदवल्ली के पास गये तथा उससे विवाह का अनुरोध किया। कुमुद ने कहा कि अभी भी कुछ शर्तें बाकी हैं, आपको एक वर्ष तक रोज १००८ श्रीवैष्णवों को भोज देना होगा तथा उनके द्वारा सेवित पवित्र अन्न का प्रसाद ग्रहण करना होगा, तभी हमारा विवाह सम्पन्न हो सकता है। परकाल ने सारी शर्तें मान लीं और दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया।

परकाल एक बड़े जमींदार तो थे, पर उन्हें अपने राजा को कर चुकाना होता था। उन्होंने ब्राह्मण-भोज में राजा को देय कर भी खर्च कर डाला। राजा के पास समाचार पहुँचा। उसने बलपूर्वक कर-वसूली के लिए एक सेना भेजी। वीर परकाल ने सेना को बुरी तरह से परास्त कर भगा दिया। राजा ने एक अन्य उपाय किया। उसने अपने मंत्री को परकाल के पास सत्संग करने के बहाने भेजा।

जब एक दिन परकाल इष्टदेव की आराधना के लिए मन्दिर में प्रविष्ट हुए, तो सहसा मंत्री ने मन्दिर को घेरकर उन्हें कैद कर लिया। परकाल ने कैद के दिन उपवास और भगवच्चिन्तन में बिताये। कुछ ही दिनों बाद

भगवान् ने उन्हें स्वप्न में आदेश दिया कि तुम कांचीनगरी जाओ, वेगवती नदी के किनारे अमुक स्थान पर तुम्हारे लिए धन छिपा हुआ रखा है। परकाल ने मंत्री को किसी प्रकार समझा-बुझाकर राजी किया और वे कांचीपुरम् आये। सूचित स्थान पर धन प्राप्त हुआ और राजा का ऋण पटा दिया गया।

पुराण में भगवान् के वचन हैं—"यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्" (जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्ति पहले हर लेता हूँ)। भगवान् और भक्तों की सेवा में परकाल की सारी सम्पत्ति खर्च हो गयी। उनके पास अब एक फूटी कौड़ी भी न रही। अभी तो १००८ वैष्णवों को वर्षभर भोजन कराने का अधिकांश कार्य बाकी रह गया था। परकाल ने सोचा कि भगवान् और भक्तों की सेवा का व्रत पूरा करने तथा अपनी आन रखने के लिए धनी एवं दुष्टों को लूटूँगा। इसलिए उन्होंने अपना एक दल तैयार किया। यह दल जंगल की राह में छिपा बैठा रहता और मौका पाकर अपना कार्य सिद्ध कर लेता।

पर भगवान् की इच्छा को समझा नहीं जा सकता। वे मूक को वाचाल बना देते हैं तथा पंगु को पहाड़ लँघा देते हैं। जब मनुष्य के पुण्य का उदय होता है, तो अनजानी राह से भगवान् की कृपा जीवन में उतर आती है। परकाल इसके अपवाद न थे। एक दिन भगवान् नारायण अपनी संगिनी लक्ष्मी के साथ एक धनाढ्य का रूप धारण

कर जंगल के रास्ते से होते हुए निकले। परकाल ने अवसर देखकर सहसा उन पर धावा बोल दिया तथा भगवान् एवं भगवती को अपने कब्जे में कर लिया। दम्पति का सारा धन छीन, गठरी बाँध जब उन्होंने चलने की कोशिश की, तो गठरी उठाये न उठी। परकाल ने सोचा कि धनिक ने कुछ जादू कर दिया है। इसलिए वे धनी से बोले—"गठरी पर क्या मंत्र फूँक रखा है कि वह इतनी वजनी लगती है? सीधे से हमें वह मंत्र सिखा दो, नहीं तो तुम्हारी जान खतरे में पड़ जायगी।"

भगवान् भयभीत-से होकर बोल उठे, "जरूर सिखाऊँगा जी, अपना कान तो नजदीक लाओ।" और विश्वगुरु नारायण ने स्वयं उन्हें अष्टाक्षरी मंत्र 'ॐ नमो नारायणाय' का उपदेश प्रदान किया। उपनिषद् का वचन है कि "अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति" (यथार्थ ब्रह्मज्ञानी यदि उपदेश करे, तो सन्देह दूर हो जाता है)। बस, क्या था, परकाल का जन्म-जन्मान्तर का संचित अज्ञान उसी क्षण निवृत्त हो गया। उनके ज्ञानचक्षु खुल गये। लक्ष्मीनारायण की युगलमूर्ति उनके हृदय में प्रतिभासित हो उठी। हथियार और गहने एक कोने में पड़े रहे। परकाल अब डाकू न रह गये, वे 'आलवार' बन गये। 'तिरुमंगै आलवार' (तिरुमंगै ग्राम के आलवार) के नाम से उनकी कीर्ति-कौमुदी चारों दिशाओं में फैलने लगी। दिव्य स्फूर्ति से उनके कण्ठ से भगवन्नाम एवं स्तोत्र झरने लगे। अब आलवार भारत के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा पर निकल

पड़े। विभिन्न ८६ पुण्य क्षेत्रों में उन्होंने विशाल विष्णु-मन्दिरों का निर्माण करवाया। इनमें श्रीरंगक्षेत्र का श्रीरंगनाथ (विष्णु) जी का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है।

इस श्रीरंगक्षेत्र में जब आलवार आये, तो उन्होंने वहाँ एक पुराना बुद्ध-मन्दिर देखा, जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा था। वहाँ उन्हें एक दिव्य आदेश सुनायी पड़ा कि 'हमारे मन्दिर, गुम्बद, प्राकार आदि का उत्तम रीति से निर्माण हो।' इस आज्ञा को शिरोधार्य कर आलवार उस प्राचोन भग्न मन्दिर के समीप आये। उनकी इच्छा थी कि उस जीर्ण मन्दिर के स्वर्ण आदि से रंगनाथजी की सेवा की जाय। पर उन्होंने देखा कि उसके अन्दर प्रवेश करना बड़ा कठिन काम था। उसमें न द्वार था, न दूसरा कोई रास्ता। किम्वदन्ती कहती है कि इस रहस्य को जानने के लिए वे उस मन्दिर का निर्माण करनेवाले शिल्पी से मिले। इसके लिए उन्हें सिंहल द्वीप जाना पड़ा था। अन्त में वहाँ की सारी सम्पत्ति हस्तगत कर उन्होंने श्रीरंगनाथजी की सेवा सम्पूर्ण की।

अब उनकी दृष्टि अपने पूर्ववर्ती भक्तों की सेवा की ओर गयी। श्रीवैष्णव-परम्परा में अग्रगण्य 'नम्मालवार' (हमारे आलवार) की स्मृति को बनाये रखने के लिए वे उनके जन्मस्थान गये। वहाँ अपनी भक्ति एवं योगबल से उन्होंने नम्मालवार का दिव्य दर्शन प्राप्त किया। भावावस्था में उन्होंने उनसे वार्तालाप भी किया। इस दर्शन से उन्हें विश्वास हो गया कि नम्मालवार भगवान्

से अभिन्न हैं और नित्यमुक्त पुरुष हैं। मुमुक्षु जीवों के लिए उनकी पूजा एवं ध्यान अत्यन्त लाभप्रद जान, उन्होंने वहाँ उनकी नित्यपूजा की व्यवस्था कर दी। यह पूजा अभी तक समस्त श्रीवैष्णव-मन्दिरों में चली आ रही है।

तीर्थयात्रा करते समय एक स्थान पर उनकी भेंट प्रसिद्ध भक्तप्रवर ज्ञानसम्बन्धर् से हो गयी। भले ही ज्ञानसम्बन्धर् शिवजी के भक्त और उपासक थे, तथापि उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक आलवार से सम्भाषण किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए उन्हें अपनी इष्टमूर्ति 'सुब्रह्मण्य' के अलंकारों में से एक भाला प्रदान किया।

भगवत्प्रेम से विभोर हो तीर्थयात्रा करते करते आलवार ने अपनी आयु के १०५वें वर्ष में महेन्द्रगिरि के समीप भद्रासन में देहत्याग किया। इस स्थान का तमिल नाम तिरुक्कुरुंगडी है। इनके द्वारा प्रणीत भक्तिगीतों की संख्या १३६१ हो गयी थी। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में, जिसके आदि-आचार्य सुप्रसिद्ध रामानुज थे, तिरुमंगै आलवार की बहुत अधिक प्रतिष्ठा है। तमिलवेद के ४००० पाशुरम् (मंत्र, पद्य) में इन अकेले के सबसे अधिक, १३६१ मंत्र हैं। इन मंत्रों का वैदिक मंत्रों के साथ पूजादि में विनियोग होता है।

तिरुमंगै आलवार ने कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों की भी रचना की है। उनके नाम निम्नलिखित हैं——

(१) 'पेरिय तिरुमोलि'——इसमें भगवान् के विरह से से तड़पते जीव की वेदना को विरह-शृंगार रस में व्यक्त किया गया है।

(२) 'तिरुक्कुरुन्ताडकम्'—यहाँ कहा गया है कि भगवन्नाम ही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है तथा भगवत्सेवादि से ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

(३) 'तिरुनेडुन्ताण्डकम्'—यह भी भगवद्विरह-प्रतिपादक ग्रन्थ है।

(४) 'तिरुवेलुक्कुट्रिरुक्कै'—इन पाशुरमों (मंत्रों) में आलवार ने भगवान् से प्रार्थना की है कि प्रभो, तुम सब प्रकार से मेरी रक्षा करो; तुमने ब्रह्मा की सृष्टि की, दस अवतारों के रूप धारण किये, फिर मुझे क्यों नहीं तारते ?

(५) 'शिरिय तिरुमडल'—आलवार ने यहाँ अपने को नायिका और ईश्वर को नायक के रूप से चित्रित कर जीव और ईश्वर का जो वस्तुतः सम्बन्ध है, उसका वर्णन किया है।

(६) 'पेरिय तिरुमडल'—यह इनका और एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

✿

हे भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोनें का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न – महाभारत के उद्योगपर्व के अन्तर्गत 'विदुर-नीति' प्रसंग में महात्मा विदुर का यह कथन कि 'दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्' (मैं प्रारब्ध को अटल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ निरर्थक है), कहाँ तक उचित है ?

—प्रेम पाटनवार, बिलासपुर

उत्तर—उक्त कथन विदुर का न होकर धृतराष्ट्र का है। विदुर-जी ने राजा धृतराष्ट्र को तरह तरह से समझाया कि दुर्योधन अधर्म के रास्ते से जा रहा है, जबकि पाण्डवों का रास्ता धर्म का है। इस पर धृतराष्ट्र ने विदुरजी से कहा (उद्योगपर्व, ३९/३०-३२)—

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम्॥
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते॥
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्॥

— "विदुर ! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य ! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है। यद्यपि मैं पाण्डवों के प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधन से मिलने पर फिर बुद्धि

पलट जाती है। प्रारब्ध का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मैं तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।"

धृतराष्ट्र के कथन को धर्म का प्रमाण नहीं माना जा सकता। धृतराष्ट्र दुर्बलचित्त व्यक्ति हैं, उनमें मनुष्य की सारी कमजोरियाँ विद्यमान हैं। उनका यह कथन कि 'दुर्योधन से मिलने पर फिर बुद्धि पलट जाती है,' उनके चरित्रगत दोष को प्रकट करता है। ऐसा व्यक्ति धर्म की व्यवस्था नहीं दे सकता। प्रारब्ध को वही अचल मानता है, जिसमें आत्मविश्वास की कमी है, जो पलायनवादी है, जो परिस्थितियों का सामना करने से घबराता है।

अब थोड़ा तात्त्विक विवेचन कर लें। 'प्रारब्ध' बनता कैसे है? पूर्वजन्म के कर्मों से। पूर्वजन्म के कर्म होते कैसे हैं? इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते हैं--(१) पहला उत्तर यह दिया जा सकता है कि पूर्वजन्म के कर्म उसके पहले के जन्म के कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आज जो हम कर्म करते हैं, वह प्रारब्ध का परिणाम है। यह प्रारब्ध हमारे पिछले जन्म के कर्मों से निर्मित हुआ तथा पिछले जन्म के कर्म उस जन्म के प्रारब्ध के फलस्वरूप हुए। इस मत में मनुष्य के इच्छा-स्वातंत्र्य के लिए, उसके पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, मनुष्य केवल एक यंत्र के समान हो जाता है।

(२) दूसरा उत्तर यह दिया जा सकता है कि पूर्वजन्म के कर्म मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य का प्रारब्ध स्वयं उसके हाथ में है। आज जो हम कर्म करते हैं, अपनी इच्छाशक्ति से करते हैं; अर्थात् हम अगले जन्म का प्रारब्ध इच्छानुसार तैयार कर ले सकते हैं। इस मत के अनुसार, व्यक्ति जैसा चाहे कर सकता है; अर्थात्, भाग्य या प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु नहीं, केवल पुरुषार्थ ही सत्य है।

(३) तीसरा उत्तर यह है कि मानवजीवन भाग्य और पुरुषार्थ का मिला-जुला खेल है। मनुष्य कुछ सीमा तक बँधा है और कुछ तक स्वतंत्र है। अपनी स्वतंत्रता का समुचित उपयोग कर वह अपने बन्धन की सीमा को कम भी कर सकता है।

इन तीन उत्तरों में पहला तो धृतराष्ट्र की दृष्टि है। इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसमें मनुष्य की स्थित पशुवत् हो जाती है। वह केवल एक मशीन बन जाता है, जिसमें अपनी इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं। यह स्वीकार करने योग्य स्थिति नहीं है।

दूसरा उत्तर केवल पुरुषार्थ को मानता है। यह भी सही नहीं। यदि जीवन में पुरुषार्थ से ही सब कुछ हो जाता, तो प्रयत्न कभी असफल न होता। एक अच्छा-खासा तन्दुरुस्त नवजवान अचानक काल-कवलित हो जाता है। एक अच्छा तैराक पानी में डूबकर मर जाता है। जहर खानेवाला बच जाता है और दवा खानेवाला मर जाता है। केवल पुरुषार्थ इस समस्या का समाधान नहीं कर पाता।

अतएव तीसरा उत्तर ही सही है। हम देखते हैं कि मनुष्य एक घेरे में बँधा है पर वह उस घेरे में कर्म करने के लिए स्वतंत्र भी है। भाग्य हमें एक घेरा प्रदान करता है, पर हम उस घेरे के अन्दर पुरुषार्थ प्रकट कर सकते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि यदि भाग्य में पैर का कटना लिखा होगा, तो पुरुषार्थ के माध्यम से यह सम्भव है कि पैर कटेगा नहीं, तो काँटा चुभकर रह जायगा। अर्थात् पुरुषार्थ से भाग्य की रेखा को क्षीण करना सम्भव है। हमें पुरुषार्थ करनें के लिए जो घेरा आज प्राप्त है, उसका समुचित उपयोग करते हुए हम अपना भावी प्रारब्ध पर्याप्त मात्रा तक प्रभावित कर सकते हैं। तभी तो महाभारत में अन्यत्र कहा है--'तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति'--'बिना पुरुषार्थ के भाग्य भी फलप्रद नहीं होता।'

*